कबीर और जायसी का रहस्यवाद तुलनात्मक विवेचन

लेखक
डॉक्टर गोविन्द त्रिगुणायत
एम० ए० पी-एच० डी०
अध्यक्ष संस्कृत-विभाग
के० जी० के० कालिज मुरादाबाद

साहित्य सदन, देहरादून

प्रकाशक
सुरेन्द्रकुमार
साहित्य सदन, देहरादून ।

मूल्य चार रुपये

मुद्रक
हकूमतलाल
विश्वभारती प्रेस, दिल्ली ।

प्राक्कथन

कबीर और जायसी दोनों ही हिन्दी-साहित्य के सुन्दर रहस्यवादी कलाकार है। दोनो ने अपनी-अपनी रहस्य-भावना रूपी वधुओं की झाँकी अपने-अपने ढंग पर सँवारी है। वे दोनों वधुएँ रहस्यात्मकता की दृष्टि से समान होते हुए भी आत्मा की दृष्टि से एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न है। कबीर की रहस्यात्मकता भारतीय हठयोग और औपनिषदिक विचार धारा के सुहाग से सम्भूत होने के कारण पूर्ण भारतीय है। गुरुवर स्वामी रामानन्द की शिक्षा-दीक्षा ने उसे और भी संयत और गम्भीर बना दिया। ये बात दूसरी हैं कि उस पर चलते-फिरते थोड़ा-बहुत प्रभाव सूफी साधना का भी पड़ गया हो। किन्तु उसका सम्पूर्ण सौन्दर्य और समस्त निष्ठाएँ ठीक उसी प्रकार की है जैसी आदर्श भारतीय वधूओं में पाई जाती है। उन्ही के समान वह लज्जाशीला है। उन्ही के सदृश वह मार्यादाप्रिय है। उनकी जैसी ही एकान्तप्रिय उसकी रुचि है। इसके विपरीत जायसी की रहस्य-भावना वेश-भूषा में भारतीय दिखाई पड़ने पर भी भारतीय नहीं है। अभारतीय सूफी-साधना और भारतीय अद्वैतवाद के संयोग से उत्पन्न उनकी रहस्य-भावना कुछ बातो में भारतीय और कुछ बातों में अभारतीय है। अपनी पारसीक माँ सूफी-साधना और मासियों सुरति और सुरा के करों द्वारा लालित-पालित होने के कारण वह भी उन्हीके सदृश उच्छृङ्खल विलासप्रिय और भाव-प्रवण है।

उसमे अपने भारतीय पिता अद्वैतवाद और पितृव्य हठयोग की भी कुछ विशेषताएँ वर्तमान है। अद्वैत भावना उन सबमे प्रधान है। ये दोनों वधुएँ हिन्दी-साहित्य के प्रांगण में युगो से खड़ी हुई है। मर्यादाप्रिय भारतीय आचार्य उनके घूँघट के उद्घाटन का साहस नही कर सके। आचार्य शुक्ल ने जायसी की रहस्य-भावना के घूँघट को उघारकर उसकी मधुर झाँकी देखने की थोड़ी चेष्टा की थी। किन्तु उनका स्वाभाविक सकोचशीला और मर्यादाप्रिय दृष्टि उसके सम्पूर्ण सौन्दर्य को देखे बिना ही ठिठक गई। उसके बाद फिर किसी ने उसके रूप के रहस्योद्घाटन का साहस ही नही किया। कबीर की रहस्य-भावना भी बहुत दिनो तक उपेक्षिता बनी रही। एक दिन एक भावुक कुमार से न रहा गया और उसने उसका घूँघट उघार ही दिया। उसके अनिर्वचनीय लावण्य से साहित्य-जगत् की आँखें चकाचौध हो गई। उसका रोम-रोम पुलकित हो उठा। बालक स्वभावत: अनुकरणशील होते है। इसीलिए बहुत-से चपल बालक कुमार के पद-चिह्नों पर चलने के लिए अधीर हो उठे। ऐसे बालको का ही एक पिछलगा इस पुस्तक का प्रणेता भी है। उसकी साधना द्विमुखी है। उसने उपर्युक्त दोनो वधुओं की झाँकी देखने की चेष्टा की है। किन्तु 'आचार्य' और 'कुमार' के पहुँचे हुए प्रयासो के समक्ष इस लेखक के बाल प्रयास का स्थान ठीक वैसा ही समझना चाहिए जैसा सूर्य और चन्द्र की ज्योति के सामने दीपक की टिमटिमाहट होती है। परन्तु दीपक का भी एक अलग अस्तित्व एवं महत्त्व होता है। जिन कक्षो तक चन्द्र और सूर्य की लेखाएँ नही पहुँचती दीपक उन कक्षो को भी ज्योतिर्मय कर देता है। इसी प्रकार मुझे विश्वास है कि मेरी रचना की स्वर-लहरी उन हृदयों तक भी पहुँचेगी जिन तक 'आचार्यजी' और 'कुमारजी' की वाणी भी नहीं पहुँच सकी है।

प्रस्तुत रचना समय-समय पर देखी गई तीन झाँकियों की विवेचनात्मक अभिव्यक्ति है। यद्यपि लेखक अच्छी तरह से समझता है कि

असीम की अनुभूतियों को असीम शब्दो में बन्दी नही बनाया जा सकता किन्तु अनिवेद्य को निवेद्य बनाने की कामना का सवरण भी वह नही कर सका । उसीके फलस्वरूप तीन रचनाओ का यह सकलन आपके सामने प्रस्तुत है । यह तीनों रचनाएँ सर्वप्रथम भाषणों के रूप में अवतरित हुई थी लेखक ने भाषणपरक अशों को काट-छाँट कर उन्हे विस्तृत विवेचनात्मक निबन्धों का रूप दे दिया है । भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में लिखी जाने के कारण तीनों मे पारस्परिक सामंजस्य की सफल प्रतिष्ठा नहीं हो पाई है । इसकी लेखक को कोई आवश्यकता भी नहीं प्रतीत होती । तीनों रचनाएँ अपने मे पूर्ण होने के कारण एक-दूसरे को अपेक्षा नही रखतीं ।

अब मै उन विद्वानो और मित्रो के प्रति आभार प्रकट कर देना अपना परम कर्तव्य समझता हूँ जिनकी कृपा, प्रेरणा और प्रोत्साहन से मै इस ग्रन्थ की रचना करने में समर्थ हुआ हूँ । सबसे प्रथम पूज्यपाद गुरुवर पंडित अयोध्यानाथजी शर्मा को अनेकधा भक्तिपुरःसर प्रमाण करता हूँ । उनके आशीर्वाद का ही यह सुमधुर फल है । हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वान् डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा डाक्टर रामकुमार वर्मा का भी मै अत्यधिक ऋणी हूं । ग्रन्थ रचना मे उनकी मूक प्रेरणा सदैव ही जागरूक रही है । सबसे अधिक धन्यवाद के अधिकारी सुहृद डाक्टर हरबंसलालजी शर्मा है । इस ग्रन्थ के मूल प्रेरक वे ही है । उन्होने ही आग्रहपूर्वक कबीर और जायसी के रहस्यवाद पर अपने यहाँ मेरे भाषण का आयोजन कराया था और मुझे इस विषय पर एक स्वतंत्र ग्रन्थ लिखने के लिए प्रेरित किया था । उनके आग्रह का पालन तो हो गया, किन्तु मै उसमें कहाँ तक सफल हुआ हूं इसका निर्णय तो लोग ही करेंगे । अन्त में मै देश-विदेश के उन विद्वानो के प्रति विद्वान्

कृतज्ञता प्रकट करता हूँ जिनके ग्रन्थों की सहायता के बिना यह ग्रन्थ लिखा ही नहीं जा सकता था।

शिव सदन
मुरादाबाद।

—लेखक

विषय-क्रम

भूमिका

रहस्यवाद अध्यात्म की साहित्य-ससार को महान् देन है। आज-कल जिस रूप में उसकी प्रतिष्ठा मिलती है, प्राचीन काल में वह उस रूप में मान्य नही था। वास्तव में रहस्यवाद का जन्म मानव और ईश्वर के जन्म के साथ-ही-साथ हुआ होगा। मानव की अपने ईश्वर के प्रति भावमय तादात्म्य-कामना तथा उससे सम्बन्धित सुकोमल भावनाएँ अनादि काल से किसी-न-किसी रूप में व्यक्त होती आ रही है। वर्तमान रहस्यवाद का प्रासाद उन्हींकी आधार-भूमि पर आधारित प्रतीत होता है।

वैदिक रहस्यवाद : प्राचीन भारत में रहस्य-भावना का उदय ब्रह्म विद्या या उपनिषद् विद्या के रूप में हुआ था। जिस प्रकार उपनिषद् गुह्यातिगुह्य ब्रह्म-तत्त्व की खोज और प्रत्यक्षीकरण में प्रयत्नवान दिखलाई पड़ते है; उसी प्रकार साहित्य का रहस्यवाद भी उस परोक्ष प्रियतम की मधुर कथा कहता पाया जाता है। उपनिषद् विद्या और रहस्यवाद में आधार-भूमि-सम्बन्धी साम्य भी है। दोनो ही सर्वात्मवाद और अद्वैतवाद की दृढ़ भूमिका पर प्रतिष्ठित है। दोनों में जो थोड़ा-बहुत अन्तर दिखलाई पड़ता है उसका कारण उनका लक्ष्य-भेद है। उपनिषद् विद्या का लक्ष्य ज्ञानरूप ब्रह्म का निरूपण करना है। रहस्य-वाद में भावविनिर्मित ईश्वर की ही प्रतिष्ठा पाई जाती है। दूसरे शब्दो में हम यह कह सकते है कि एक का विस्तार-क्षेत्र ज्ञान था, और दूसरे का भाव।

तान्त्रिक धारा : औपनिषदिक रहस्यवाद के अतिरिक्त भारतवर्ष में रहस्यवाद की एक धारा और भी पाई जाती है: वह है योग की।

वास्तव में योग एक स्वतन्त्र साधना-मार्ग है। किन्तु वह इतना गुह्य और रहस्यात्मक है कि उसकी काव्यात्मक शैली में अभिव्यक्त की हुई बातें भी रहस्यवाद की सीमा के अन्दर मानी जाने लगी है। रहस्यवाद की इस धारा में भी हिन्दी-साहित्य के रहस्यवादियों को प्रभावित किया है। उनके रहस्यवाद का स्वरूप निर्धारित करते समय इस बात को कभी भूलना नही चाहिए।

ईसाई और सूफी धारा : रहस्यवाद का विकास ईसाई और यहूदी मतो में भी हुआ है। किन्तु उसका यह रूप भारतीय स्वरूप से बहुत भिन्न था। भारतीय रहस्य-भावना भारतीय रमणी की भाँति अधिक संयत, मर्यादामय और ज्ञान-विशिष्ट थी। किन्तु ईसाई और इस्लाम मतों में उदय होने वाली रहस्य-भावना सुरति और सुरा की सहेली होने के कारण अत्यधिक उच्छृङ्खल और विलासपूर्ण थी। उच्छृङ्खलता और विलास की अतिरेकता के कारण उसका अध्यात्म पक्ष बिलकुल क्षीण हो गया। परिणाम यह हुआ कि धर्म के नाम पर घोर व्यभिचार फैलने लगा। यहोवा के कुछ उपासकों में इस तीव्र मादन भाव की प्रतिक्रिया दिखलाई भी दी, किन्तु वे युग के तूफान को रोक न सके और उन्हें भी यहोवा के लिए पत्नी का विधान करना ही पड़ा। यहूदी और मसीही मतों में इस मादन भाव की अभिव्यक्ति किसी-न-किसी रूप में बराबर होती रही। इसलाम की शुष्क और कट्टर भावना से घबराकर बहुत-से सन्तों ने यहूदी और क्रिश्चियन मतों में पाए जाने वाले मादन भाव का आश्रय लेकर तथा उसे अलौकिक रूप देकर अपनी साधना को सरस बनाने की चेष्टा की। उसके लिए उन्होने लौकिकता में अलौकिकता के दर्शन करने का प्रयास किया। इनका सारा प्रयत्न लौकिक मादन भाव को अलौकिक रूप देने में ही लगा रहा। परिणाम यह हुआ कि इनकी साधना लौकिकता और अलौकिकता के बीच में खो गई। इनमें जिस तीव्र भावना या सरस मादन भाव का प्रभाव दिखलाई पड़ता है

वह कहीं लौकिक है और कहीं अलौकिक। यही कारण है कि सूफी रहस्य-भावना लौकिकता की भूमि पर खडी होकर अलौकिकता के गगन को छूने का प्रयत्न किया करती है। इस प्रयत्न का इतिहास ही सूफी रहस्यवाद है। ये सूफी रहस्यवाद भारतीय औपनिषदिक रहस्यवाद से, जो अलौकिक और पवित्र ज्ञान लोक में विचरण करता रहता है, सर्वथा भिन्न है।

हिन्दी के सन्त कवियो में पाया जाने वाला रहस्यवाद उपर्युक्त तीनों धाराओं से प्रभावित है। उसको समझने के लिए पृष्ठभूमि के रूप में इन तीनो धाराओं में पाए जाने वाले रहस्यवाद का स्वरूप और विकास समझ लेना आवश्यक है। इन तीनों धाराओं का सम्यक् विकास दिखाने के लिए बहुत समय और स्थान की आवश्यकता है। यहाँ न तो इतना स्थान ही है, और न अवकाश ही। अतएव हम अत्यन्त संक्षेप में तीनों धाराओ का सकेत-मात्र करेंगे।

वैदिक रहस्यवाद

संहिताओं में : प्राचीन भारतीय साहित्य में हमें रहस्यवाद का शास्त्रीय प्रतिपादन नही मिलता किन्तु इसका यह अर्थ नही है कि रहस्यवाद भारत के लिए कोई नवीन वस्तु है। वेदो में रहस्य-भावना की सुन्दर अभिव्यक्ति पाई जाती है। वैदिक रहस्य-भावना का उदय दृष्टाओं को दार्शनिक विचिकित्साओ के फलस्वरूप हुआ था। इन विचिकित्साओं की सुन्दर झाँकी हमें 'नासदीय सूक्त' में मिलती है। इसके दृष्टा के अन्तर्गत में इस प्रकार विचिकित्साएँ उठती हैं—

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं ।
नासीद्रजो नो व्योमा परोयत् ॥
किमावरीवः कुहकस्य शर्म—
न्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम् ॥

अर्थात् तब मूलारम्भ में सत् भी नही था और असत् भी नहीं था। अन्तरिक्ष न था और उसके परे का आकाश भी न था। ऐसी अवस्था में किसने किस पर आवरण डाला ? कहाँ ? किसके सुख के लिए ? उस समय अगाध जल भी था या नहीं ?

न मृत्यु रासीदमृतं न तर्हि।
न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः॥
आनीदवातं स्वधया तदेकं।
तस्माद्धान्यन्न परः किंचनाऽऽस॥

अर्थात् तब मृत्यु का अस्तित्व न था, अतः दूसरा अमृत पदार्थ का भेद भी न था। इसी प्रकार दिन और रात के भेद को स्पष्ट करने का भी कोई साधन न था। वह एक तत्त्व ही अपनी शक्ति से स्फूर्तिमान था, इसके परे और कुछ भी न था।

तम आसीत्तमसा गूढमग्रे,
ऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छेनाभ्वपिहितं यदासीत्,
तपस्तन्महि नाऽजायतैकम्॥

अर्थात् जो ऐसा कहा जाता है कि प्रारम्भ मे अन्धकार था और उस अन्धकार से आवृत जल था। उस समय अम्भु भी तुच्छ माया से आवृत था। वह मूल तत्त्व अपने तप की महिमा से प्रकट हुआ था।

कामस्तदग्रे समवर्तताधि,
मनसा रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन्,
हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥

इसके मन का जो बीज था वही काम कहलाया बुद्धिमानों ने विचार पूर्वक यही निश्चित किया कि यही असत् में और सत् में पहले सम्बन्ध है।

उपर्युक्त मंत्रो में रहस्यपूर्ण आध्यात्मिक विचिकित्साएँ, अद्वैतवाद का मूल रूप तथा सृष्टि में प्रेम या काम का महत्त्व आदि बातो का, जिनका सम्बन्ध रहस्य-भावना से ही है, वर्णन किया गया है।

'ऋग्वेद' में विराट् ब्रह्मवाद का भी बड़ा रहस्यात्मक प्रतिपादन मिलता है। पुरुष-सूक्त के कुछ मंत्र इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। वह विराट् पुरुष सारी पृथ्वी को आक्रान्त करके भी उससे परे है।

सहस्र शीर्षा पुरुषः,
सहस्राक्षः सहस्रपात।
स भूमिं विश्वतो,
त्वात्यतिष्ठद्दशांगुलम् ॥

अर्थात् वह पुरुष सहस्र शीर्ष वाला था। उसकी सहस्र आँखे थीं, उसके सहस्र पाणि थे, और उसने पृथ्वी को चारो ओर से आक्रांत कर रखा था। किन्तु फिर भी दशांगुल उससे परे था। अगले मंत्र में अद्वैतता प्रतिपादित करके पुरुष की रहस्यमयता ध्वनित की गई है—

पुरुष एवेदं सर्वं
यद्भूतं यच्च भव्यम्
उतामृतत्वस्येशानो।
यदन्नेनातिरोहति ॥

अर्थात् वह सब-कुछ पुरुष रूप ही है। आगे जो कुछ होगा वह भी पुरुष रूप ही होगा, और पहले जो कुछ था वह भी पुरुष ही था। वह अमृतत्व का स्वामी था और वह सब-कुछ वही है जो अन्न से उत्पन्न होता है। 'ऋग्वेद' मे अद्वैतता का प्रतिपादन वागारम्भणीय सूक्त में बड़े भावात्मक ढंग से किया गया है। उसके कुछ मंत्र इस प्रकार है—

अहं रुद्रेभि वसुभिश्चरा—
म्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।

अहं मित्रावरुणाभा विभ
म्यहमग्निन्द्राग्नी अहं अश्विनोभा ।।

अर्थात् मैं रुद्र और वसु के साथ ही रहती हूँ तथा अन्य देवताओं के साथ भी रहती हूँ। मैं मित्र और वरुण को धारण करती हूँ, मैं दो अश्विन इन्द्र और अग्नि को वहन करती हूँ —

अहं रुद्राय धनुरातनोमि
ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवाउ
अहं जनाय समदं कृणो-
म्यहं द्यावा पृथिवी आं विवेश ।।

अर्थात् मैं रुद्र का धनु तानती हूँ, ताकि तीर से शत्रु का वध किया जा सके और उन लोगो का वध कर सके जो ईश्वर से घृणा करते हैं। मैं मनुष्यो में युद्ध की भावना भरती हूँ। मैं स्वर्ग और पृथ्वी सभी में परिव्याप्त हूँ। इस मंत्र की अन्तिम पंक्ति में स्पष्ट रूप से अद्वैतवाद का प्रस्थापन किया गया है। पहली तीन पंक्तियों में भावात्मक अद्वैतवाद की प्रतिष्ठा मिलती है। इसी प्रकार के सैकड़ों मत्रों से पता चलता है कि संहिताओं में रहस्यवाद अपने बीज रूप में वर्तमान था।

उपनिषदों का रहस्यवाद : संहिताओ में जिस रहस्यवाद का बीजारोपण किया गया था वह उपनिषदों में आकर अंकुरित हुआ। उपनिषदों में वेदांत का प्रतिपादन किया गया है। दूसरे शब्दों में यों कह सकते है कि उनमें ज्ञान की पराकष्ठा का दिग्दर्शन कराया गया है। ज्ञान को भी उपनिषदो में दो भागों में बाँटा गया है। एक को परा विद्या कहा गया है और दूसरे को अपरा विद्या। 'मुण्डकोपनिषद्' में उनका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

द्वे विद्ये वेदितव्येह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति पराचैवापरा च। तत्र अपरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो अथर्ववेदः शिक्षाकल्पो व्याकरण निरुक्त छंदो ज्योतिषमिति अथ परा यथा तदक्षरमधिगम्यते।

अर्थात् विद्या दो प्रकार की होती है—एक अपरा और दूसरी परा। अपरा विद्या के अन्तर्गत चारों वेद और छहों वेदांग गिनाए गए हैं और ब्रह्म विद्या को परा विद्या कहा गया है। इस परा विद्या का प्रेरक जब तर्क होता है तब उसे अध्यात्म ज्ञान की संज्ञा दी जाती है। और जब उसकी मूल प्रेरिका भावना होती है तब उसे अध्यात्म की अनुभूति कहेंगे। उपनिषदों में ब्रह्मानुभूति में तर्क की अप्रतिष्ठा मानी गई है। 'कठोपनिषद्' में स्पष्ट लिखा है—

नैषा मतिं तर्केणापनेया।

अब प्रश्न है फिर उसकी अनुभूति या ज्ञान कैसे प्राप्त हो। इस पर 'कठोपनिषद्' में लिखा है—

न नरेणावरेण प्रोक्त एष
सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः।
अनन्य प्रोक्तेगतिरत्र नास्ति
अणीयान्ह्यतर्क्यमणु प्रमाणात्॥

अर्थात् कई प्रकार से विवेचित आत्मा नीच पुरुष द्वारा उपदिष्ट होने पर बोधगम्य नहीं हो सकता। अभेददर्शी आचार्य द्वारा उपदेश किये जाने पर आत्मा अस्ति-नास्ति रूप अनुभव होता है। यह आत्मा सूक्ष्म परिणाम वालो से भी सूक्ष्म और दुर्विज्ञेय है। इस उद्धरण में दृष्टा ने आत्म-ज्ञान के उपदेश के योग गुरु का संकेत किया है। वास्तव मे अभेददर्शी गुरु ही ब्रह्म ज्ञान देने का अधिकारी कहा जा सकता है।

'छान्दोग्योपनिषद्' में भी ब्रह्म विद्या की प्राप्ति एक-मात्र गुरु से ही मानी गई है। सत्यकाम अपने गुरु से कहता है—

श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यः आचार्याद्ध्येव विद्या विदिता साधिष्ठं प्राप्स्यतीति।[1]

---

१. ४।९।३।

अर्थात् सुयोग्य आचार्य के द्वारा साधना-मार्ग मे दीक्षित किये जाने पर ही साधक अपने साध्य तक पहुँच सकता है। क्योंकि साधना-पथ (क्षुरस्य धारा) छुरी की धारा के सदृश तीक्ष्ण, दुर्गम एवं दुर्जेय माना जाता है—

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया।
दुर्गम पथस्तत् कवयो वदन्ति ॥[1]

श्रुतियों में सद्गुरु के आवश्यक गुणों का विविध प्रकार से संकेत किया गया है। 'मुण्डकोपनिषद्' में लिखा है कि रहस्य-विद्या उसी गुरु से ग्रहण करनी चाहिए जो वेदज्ञ और ब्रह्मनिष्ठ है।

तद्विज्ञानार्थं गुरुमेवाभिगच्छेत्।
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥[2]

अर्थात् ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त करने के लिए समित्पाणि होकर वेदज्ञ और ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाना चाहिए। इसी प्रकार अन्य श्रुतियों में भी सद्गुरु की महिमा का सकेत किया गया है।

श्रुतियों में साधक के पात्रत्व और अधिकारित्व पर भी विशेष बल दिया गया है। रहस्य-विद्या सब नही ग्रहण कर सकते हैं। ब्रह्म-ज्ञान का अधिकारी वही शिष्य माना जा सकता है जो पाप-कर्मों से मुक्त हो चुका है और जिसका मन शान्त व स्थिर है। इसी बात को कठोपनिषद्-कार ने इस प्रकार कहा है—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो ना समाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनम् अप्नुयात् ॥[3]

'मुण्डकोपनिषद्' में लिखा है कि ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति के लिए शिष्य को सत्यनिष्ठ, ब्रह्मचारी, तपस्वी और सम्यक् ज्ञान विशिष्ट भी होना चाहिए।

सत्येनलभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा।
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ॥[4]

---

१. १।३।१४। २. १।२।४। ३ १।२।२४। ४. ३।१।५।

उपनिषदों में रहस्यमय की अनुभूति तक पहुँचाने वाले बहुत-से मार्ग निर्देशित किये गए है। 'छान्दोग्योपनिषद्' में धर्म के तीन पक्ष बतलाए गए है—यज्ञ, अध्ययन और दान।

धर्मस्य त्रयः स्कन्धाः यज्ञोऽध्ययनं दानम्।

भक्ति और तपस्या को हम यज्ञ रूप मान सकते हैं। दान को कर्म एव योग का प्रतीक लिया जा सकता है। अध्ययन से ज्ञान का अभिप्राय हैं। उपनिषदों में इन तीनों साधनों का उल्लेख और भी कई स्थलों पर मिलता है। 'बृहदारण्यकोपनिषद्' की निम्न लिखित पंक्ति में भी उपर्युक्त तीन साधनों का संकेत-सा मालूम पड़ता है—

आत्मा वा अरे दृष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।

अर्थात् आत्मा साक्षात्कार करने योग्य, श्रवण करने योग्य; मनन करने योग्य और ध्यान करने योग्य है।

ज्ञान-काड का प्रतिपादन करते हुए भी उपनिषद् भक्ति-मार्ग की उपेक्षा नही कर सके है। 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' में स्पष्ट लिखा है कि जब तक उस रहस्यमय में साधक की भक्ति नही होती तब तक वह उसका साक्षात्कार नही कर सकता—

यस्य देवे परा भक्ति यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिताह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥[1]

अर्थात् जिसकी परमात्मा में उत्तम भक्ति है और परमात्मा के समान ही गुरु में भक्ति है वही सब-कुछ जान लेता है। उपनिषदों में योग का भी विस्तार से उल्लेख किया गया है। 'कठोपनिषद्' में स्पष्ट लिखा है कि उस रहस्यमय देव को आध्यात्म योग से जानकर साधक हर्ष व शोक से रहित हो जाता है—

"आध्यात्मयोगाधि गमेन देवमत्वा धीरो हर्ष शोको जहाति।"[2]

---

१. ६।२।३।   २. १।२।१२।

यह अध्यात्म योग वास्तव में इन्द्रिय धारण रूप है—

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रिय धारणम् ।

अप्रमत्तस्तदा भवति योगोहि प्रभवाप्ययौ ॥[१]

अध्यात्म योग के अतिरिक्त उपनिषदों में हठ, लय, मंत्र और राजयोग के भी वर्णन मिलते है। देखिए 'बृहदारण्यकोपनिषद्' में मंत्रमूलक समाधि योग का कैसा सुन्दर वर्णन किया गया है—

तस्मादेवं विच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षु: ।

समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मान पश्यति ॥[२]

अर्थात् इस प्रकार जानने वाला इन्द्रियो और मन का संयम करके उपराम वृत्ति धारण कर तितिक्षु होकर समाधि परायण हो अपने अन्दर आत्मा को देखता है। इसी प्रकार 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' (२।१४।१५।-२।८।६) 'मुण्डकोपनिषद्' (३।२।५.६) में योग के विस्तृत वर्णन पाए जाते हैं। इनमे से अधिकांश वर्णन साधनात्मक रहस्यवाद के अन्तर्गत आयेंगे।

अब रही ज्ञान-मार्ग की बात; उसके तो उपनिषद प्रधान प्रवर्तक माने ही जाते है। उनमें विविध विद्याओं का वर्णन ज्ञान, साधन एवं उपासना के रूप में ही किया गया है। उपनिषदों में वर्णित निम्नलिखित विद्याएँ विशेष रूप से विचारणीय है। क्योंकि उनकी प्रतिष्ठा उनमें ज्ञान-प्रधान उपासना के रूप में हुई है—

(१) उद्गीथ विद्या (२) संवर्ग विद्या
(३) मधु विद्या (४) पंचाग्नि विद्या
(५) उपकोशल आत्मविद्या (६) शाडिल्य विद्या
(७) भूम विद्या (८) दहर विद्या
(९) दीर्घायुष्य विद्या (१०) मन्थ विद्या

यहाँ पर हम अत्यन्त संक्षेप में इनका संकेत कर देना चाहते है—

१. २।६।११। २. ४।४।२३।

(१) *उद्गीथ विद्या :* इसको हम प्रणव-साधना भी कह सकते हैं। प्रणव अर्थात् 'ॐ' परमात्मा का सर्वश्रेष्ठ नाम है। इसके द्वारा भाव पूर्वक भगवान् का कीर्त्तन किया जा सकता है। इसीलिए प्रणव को उद्गीथ भी कहते हैं। प्रणव की साधना से साधक वाक् और प्राण का तादात्म्य स्थापित करता है। रहस्यमय की प्राप्ति का यह मार्ग बड़ा सरल और भावमय है। संसार के सभी श्रेष्ठ रहस्यवादी इसका अनुसरण करते रहे हैं।

(२) *संवर्ग विद्या :* संवर्ग विद्या भी भावना-प्रधान साधना मानी जा सकती है। संवर्ग का अर्थ होता है अन्तर्मुक्त कर लेना। सब का अन्तमुंक्त करने वाला एक परमात्मा है। अतः उसकी भक्ति करना ही एकमात्र साधन है।

(३) *मधु विद्या :* मधु विद्या भी एक प्रकार की रहस्य-साधना है। इसके अनुयायियो का कहना है कि आदित्य ही सबको मधु प्रदान करने वाला है; अतः मधु स्वरूपी ब्रह्म की प्राप्ति आदित्य की उपासना से हो सकती है। 'छान्दोग्योपनिषद्' में इस मधु-विद्या का उल्लेख मिलता है।

(४) *पंचाग्नि विद्या :* इसकी चर्चा 'कठोपनिषद्' और 'बृहदारण्यको-पनिषद्' में की गई है। पंचाग्नि साधना का संबंध ज्ञान-मार्ग से अधिक है। पंचाग्नि विद्या का स्वरूप श्वेतकेतु ने प्रवाहण राजा से जैसा सुना था वह इस प्रकार है—'यह लोक अग्नि है इसको प्रज्वलित करने के लिए सूर्य लकडी है। उसकी किरण धूम है, दिन ज्वाला है, दिशाएँ अगार है तथा अवान्तर दिशाएँ स्फुलिंग हैं। इस अग्नि में देवता लोग श्रद्धारूपी हवि का हवन करते हैं। इस हवन से सोम की उत्पत्ति होती है। श्रुति कहती है कि यहाँ श्रद्धा जलस्वरूप है। अतएव देवता जल-समूह मेघ रूप अग्नि में सोम चन्द्रमा को, लोक रूप अग्नि में वृष्टि को और वृष्टि से उत्पन्न अन्न को पुरुष रूप अग्नि में जलाते हैं। उससे वीर्य उत्पन्न होता है उसका हवन स्त्री रूप अग्नि में होता है। मनुष्यो की

उत्पत्ति मे लोक, मेघ पुरुष और स्त्री कारण हैं। पुरुष और स्त्री को चिता की आग भस्म करती है। यही पाँच अग्नियाँ हैं, इन्हीमे परमात्मा व्याप्त है। इनके द्वारा जो परमात्मा को जानता है वह नित्य मुक्त हो जाता है। वेदान्त में इस पंचाग्नि विद्या का बडा विस्तार है। इसका ज्ञाता पुनरावृत्ति-हीन मुक्ति को प्राप्त होता है।

(५) *उपकोशल आत्म विद्या* : इसे हम मनन प्रधान विद्या कह सकते है। सत्यकाम ने अपने शिष्य जावालि को जब ब्रह्मोपदेश नही दिया तो उसने तपस्या करके अपनी अग्नियों से उपदेश प्राप्त किया है। वह उपदेश था '**प्राणोब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म।**' इसी मंत्र का मनन करता हुआ साधक ब्रह्म-प्राप्ति मे समर्थ होता है।

(६) *शांडिल्य विद्या* : इस विद्या का उल्लेख 'छान्दोग्योपनिषद्' मे किया गया है। शांडिल्य ने परमात्मा को अनंत करुणा-सम्पन्न माना है। इस विद्या के साधक को समस्त ब्रह्माण्ड को ही ब्रह्म समझकर उसकी उपासना करनी चाहिए; क्योकि यह ब्रह्माण्ड उसीसे सम्भूत हुआ है; उसीसे जीवित रहता है और उसीमे लीन हो जाता है। इस प्रकार की साधना ही शांडिल्य विद्या है।

(७) *भूम विद्या* : इस विद्या का उल्लेख भी 'छान्दोग्योपनिषद्' मे ही मिलता है। इसका वर्णन 'छान्दोग्योपनिषद्' मे निम्नलिखित शब्दो में किया गया हैं—

यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखम् भूमात्वेवविजज्ञासितव्यः अर्थात्—भूमा ही सुख है। ससीम मे सुख नही होता है। उस भूम रूपी असीम मे ही सुख है। अतएव उस भूम अर्थात् अनन्त की ही खोज करनी चाहिए। यही भूम विद्या है।

(८) *दहर विद्या* : इस विद्या मे हमे योग और उपासना का समन्वित स्वरूप-सा मिलता है। इसका वर्णन 'छान्दोग्योपनिषद्' में किया गया है। उसमे लिखा है—

यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः स्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम् ।[1]

अर्थात् मनुष्य का शरीर ही ब्रह्मपुर है। उसका दहर हृदयकमल भगवान् का निवास-स्थान है। उसीमे परमात्मा को खोजना चाहिए, इस दहर निवासी परमात्मा की उपासना दहर विद्या कहलाती है। कबीर आदि साधको की रहस्य-साधना दहर विद्या से मिलती-जुलती है।

(६) *दीर्घायुष्य विद्या* : इस विद्या का भी सकेत 'छान्दोग्योपनिषद्' में किया गया है। इसमें ब्रह्म-ज्ञान के सहारे आयु-विस्तार का वर्णन मिलता है।

(१०) *मन्थ विद्या*: इसे हम निष्काम विद्या कह सकते है। इसका संकेत 'बृहदारण्यकोपनिषद्' में किया गया है। इस विद्या का लक्ष्य साधक को निष्काम उपासना की ओर प्रेरित करना है। इस प्रकार उपनिषदों में विविधज्ञानमूलक एवं उपासना-प्रधान साधनाओं का उल्लेख किया गया है। ये साधना-पथ वास्तव में बड़े ही रहस्यपूर्ण है। उनके रहस्यों का उद्घाटन करने का न तो यहाँ स्थान ही है, और न आवश्यकता ही। किन्तु उपनिषदों का रहस्यवाद बहुत-कुछ इनके आश्रय से भी विकसित हुआ है।

उपनिषदों में ब्रह्म का वर्णन भी विविध प्रकार से विविध शैलियों में किया गया है। रहस्यमय परमात्मा के ये वर्णन बड़े ही रहस्यात्मक हैं। स्थूल रूप से यह वर्णन दो प्रकार के है —

१—स्वानुभूतिमूलक।

२—बुद्धि मूलक।

१ स्वानुभूतिमूलक वर्णन रहस्यवाद के अन्तर्गत आते है। यह स्वानुभूतिमूलक वर्णन रानडे साहब के अनुसार चार प्रकार के है। उन्होने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ—'A Constructive Survey of the

१. ८।१।१।

Upenishadic Philosophy' में Mysticism वाले अध्याय में पृष्ठ ३४३ पर इन अनुभूतियों का वर्णन करते हुए लिखा है —

"Four types of experience of the whole are to be scattered in the Upanishadas which bear respectively of the forms, the colours, the sounds, and light which are experienced by the mystics in the process of contemplation."

अर्थात् "उपनिषदो मे चार प्रकार की रहस्यानुभूतियाँ बिखरी मिलती है, जिनका सम्बन्ध क्रमशः रूप, रग, शब्द और प्रकाश से है।" हमारी समझ में उपनिषदो मे केवल चार प्रकार की रहस्यानुभूतियाँ ही नही मिलती हैं वरन् वे उन समस्त प्रकार की रहस्यानुभूतियों का कोष है जिनकी किसी भी रहस्यवादी ने कभी भी अनुभूति की होगी। यहाँ पर हम उपर्युक्त चार प्रकार की रहस्यानुभूतियो का परिचय कराकर कुछ अन्य प्रकार की रहस्यानुभूतियो का सकेत कर अपने मत की पुष्टि करेंगे। रूपाकार-सम्बन्धी अनुभूतियों की चर्चा 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' की निम्नलिखित पक्तियो मे की गई है —

नीहार धूमार्कनिलानिलानां खद्योत विद्युत्तस्फटिक शशिनाम्।
एतानि रूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्ति कराणि॥[1]

अर्थात् योग-साधना करने पर उस ब्रह्म की अनुभूति नीहार, धूम, सूर्य, अग्नि, वायु, जुगनू, बिजली, स्फटिक और चन्द्र के रूप मे हुआ करती है। इसी प्रकार श्रवणेन्द्रिय से सम्बन्धित अनुभूतियाँ भी मिलती हैं। 'बृहदारण्यकोपनिषद्' में शब्द रूप में ब्रह्मानुभूतियों का वर्णन इस प्रकार किया गया है।

अयमग्निर्वैश्वानरो योयमंतः
पुरुषे येनदमंन्न पच्यते

---

१. २।११।

यदिदमद्यते तस्यैष घोषा
भवति यमेतत्ककर्णावपिधाय
शृणोति स यदोत्क्रमिष्यन्
भवति नैनं घोषं शृणोति।[1]

अर्थात् शब्द पचन क्रिया और भोजन क्रिया का परिणाम है। कोई भी मनुष्य इन्हे अपनी आँख बन्द करके सुन सकता है। किन्तु जब मनुष्य मरने लगता है तब वह ध्वनियाँ नही सुन पाता है। इसी प्रकार 'छन्दोग्योपनिषद्' में (३।१३।०।) भी लिखा है कि अपने अन्तर में आँखे बन्द करके सत्यानुभूति की जा सकती है। यह सत्यानुभूति विविध प्रकार की ध्वनियों के रूप मे होती है। कभी तो बैल के गर्जन के सदृश, कभी वज्र-नाद की तरह और कभी अग्नि जलने के सदृश ध्वनियाँ सुनाई पड़ती है। उपनिषदो में ब्रह्म की अनुभूति प्रकाश के रूप में भी वर्णित की गई है। 'मुण्डकोपनिषद्' में ज्योतिस्वरूपी ब्रह्म का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलं तच्छुभं
ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः।[2]

अर्थात् हिरण्यमय स्वच्छ कोश पर निष्कल ब्रह्म जो ज्योतियों में श्रेष्ठ ज्योति है, विराजमान मालूम पडता है। आत्मज्ञानी लोग इसकी अनुभूति करते है। इस प्रकार उपनिषदों में ब्रह्म की उपर्युक्त चार प्रकार की ऐन्द्रिक अनुभूतियो के सैकड़ो वर्णन मिलते है। उपनिषदो में स्पर्श-सम्बन्धी वर्णनो की कमी नही है। किन्तु इस प्रकार के वर्णन बहुत रहस्यपूर्ण है। 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' में एक स्थल पर कहा गया है कि वह न स्त्री है, न पुरुष है, न नपुंसक है, किन्तु फिर भी जिस-जिस शरीर को धारण करता है उसमें वह रक्षित रहता है।

१. ५।६।१। २. २।२।६।

रहस्यवादी साधक रहस्यमय की अनुभूतियाँ प्रायः बुद्धि-क्षेत्र में भी करते है। बुद्धि-क्षेत्र से सम्बन्धित अनुभूतियाँ ऐन्द्रिक अनुभूतियो से विलक्षण होती हैं। इस प्रकार की बुद्धिमूलक अनुभूतियाँ दर्शन-और रहस्यवाद के मध्य की वस्तु है। कभी तो वह बुद्धि की अतिरेकता दर्शन की निधि प्रतीत होती है और कभी-कभी भावना के अतिरेक से रहस्यवाद के समीप आ जाती है। इस कोटि की अनुभूतियों का वर्णन उपनिषदों में प्रधान रूप से निम्न लिखित रूपो में मिलता है—

(१) विरोधात्मक रूप मे।

(२) निषेधात्मक रूप में।

(३) विभावनात्मक रूप में।

(४) अनिर्वचनीय रूप में।

(५) विराट् ब्रह्म के रूप में।

(१) *विरोधात्मक वर्णन*—उपनिषदो में ब्रह्म के अनेक विरोधात्मक वर्णन मिलते हैं। उदाहरण के लिए हम 'ईशावास्योपनिषद्' का यह वर्णन ले सकते है—

आसीनोदूर व्रजति शयानो याति सर्वतः।[१]

अर्थात् वह रहस्यमय ब्रह्म स्थित होते हुए भी दूरगामी है और सोता हुआ भी सर्वगामी है।

(२) *निषेधात्मक वर्णन*—उपनिषदों में ब्रह्म का वर्णन निषेधात्मक शैली मे भी किया गया है। उदाहरण के लिए हम 'श्वेताश्वतर उपनिषद् का यह वर्णन ले सकते है—

"नैष स्त्री न पुमानेष नचैवायं नपुंसकः"

अर्थात् वह स्त्री है, न पुरुष है और न नपुंसक है।

(३) *विभावनात्मक वर्णन*—उपनिषदों में ब्रह्म के अनेक विभावनात्मक वर्णन मिलते हैं।

---

१. ५।१०।

"अपाणिपादोजवनोग्रहीता' वाली उक्ति तो लोक में बहुत प्रसिद्ध है। इस प्रकार की सैकडो विभावनात्मक उक्तियाँ उपनिषदों में भरी पड़ी है।

(४) *अनिर्वचनीय रूप वाला वर्णन*—उपनिषदों का नेतिवाद तो बहुत प्रसिद्ध है ही। नेतिवाद वास्तव मे अनिर्वचनीयतावाद है। जब उपनिषद् ब्रह्म को वाणी के जाल में बाँधने का प्रयत्न करते-करते थक जाते है और उसे बाँध नही पाते तभी उन्हे नेतिवाद का आश्रय लेना पडता है। उपनिषद नेतिवाद के वर्णनो से भरे पडे है।

(५) *विराट्ब्रह्म के वर्णन*—ऋग्वेद के पुरुष सूक्त के अनुकरण पर विराट् ब्रह्म के वर्णन उपनिषदो में भी मिलते है-

अग्निर्मूर्धा, चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ, दिशः श्रोत्रे वाग् विवृताश्च वेदाः।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथ्वी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा॥

अर्थात् उस विराट् ब्रह्म की मूर्धा अग्नि है, सूर्य और चन्द्र उसकी आँखें है। दिशाएँ कान है। विवृत वेद उसकी वाणी है। वायु प्राण है। यह विश्व उसका हृदय रूप है। समस्त पृथ्वी उसके चरणों से आक्रान्त है। वह सर्व भूतो की अन्तरात्मा में निवास करता है।

अंगुष्ठ प्रमाणी ब्रह्म का वर्णन—उपनिषदो ने ब्रह्म का अंगुष्ठ प्रमाणी ज्योति के रूप मे भी वर्णन किया है। 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' में इसका वर्णन **'अंगुष्ठमात्रो रवि तुल्यारूपा'** कहकर किया गया है। 'कठोपनिषद्' मे इसका उल्लेख इस प्रकार मिलता है—**'अंगुष्ठमात्र पुरुषोन्तरात्मा सदा जननांहृदये सन्निविष्ट:"**[१] इस प्रकार उपनिषदो मे उस ब्रह्म रूप परमात्मा के भावात्मक और बुद्धिमूलक दोनो प्रकार के वर्णन किये हैं। कबीर आदि साधकों में हमें दोनों प्रकार के वर्णनों की बहुलता मिलती है। इन वर्णनो के प्रभाव से कही दार्शनिक ढंग के रहस्यवाद की अच्छी सृष्टि हुई है।

१. २।६।१७

उपनिषदों में हमें इन विविध प्रकार की भावात्मक और बुद्धि-मूलक अनुभूतियो के साथ-साथ भावातिरेकता की स्थिति के भी, जो रहस्यानुभूति का प्राण है, वर्णन मिलते है। रानाडे साहब ने इसके उदाहरण में 'मुण्डकोपनिषद्' का निम्नलिखित उद्धरण दिया है—

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म, पश्चात् ब्रह्म, दक्षित-
श्चोत्तरेण अधश्चोर्ध्वं प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठं ।[1]

अर्थात् "ब्रह्म हमारे सामने है ब्रह्म हमारे पीछे है। ब्रह्म हमारी बाईं ओर है, दाहिनी ओर है, वही ऊपर है, नीचे है, वही श्रेष्ठातिश्रेष्ठ ब्रह्माण्ड है" यह उक्ति दृष्टा की भावातिरेकता स्पष्ट व्यञ्जिता करती है।

उपनिषदों में रहस्यानुभूति की स्थिति के भी बड़े मनोरम चित्र मिलते है। 'मुण्डकोपनिषद्' मे लिखा है —

तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीराः ।
आनन्दरूप अमृतं यद्विभाति ॥

अर्थात् उसको जानकर धीर साधक आनन्द रूप अमृतत्व को अनुभव कर लेते है। इसी प्रकार 'कठोपनिषद्' में भी लिखा है—**निचाय्य तं मृत्यु मुखात् प्रमुच्यते ।**[2] अर्थात् उसे साक्षात् जानकर पुरुष मृत्यु के मुख से छूट जाता है। इसी श्रुति में दूसरे स्थल पर इस अवस्था का वर्णन कुछ हेर-फेर के साथ दूसरे शब्दो में किया गया है—**ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्युः ।**[3] अर्थात् ब्रह्म को प्राप्त हुआ पुरुष विरज (शुद्ध) और विमृत्यु (अमर) हो गया।' इसी प्रकार अन्य श्रुतियो में भी ब्रह्मानुभूति के प्रभावो का वर्णन किया गया है। इस कोटि के कुछ वर्णन तो शुष्क, नीरस और वर्णनात्मक होने के कारण दर्शन की सीमा के अन्तर्गत आयँगे। किन्तु कुछ काव्यात्मक एवं भाव-प्रधान वर्णन रहस्यवाद की विभूति कहे जायँगे।

अब थोड़ा-सा औपनिषदिक रहस्यवाद की अभिव्यक्ति पर विचार

---

१. २।२।११। २. ३०१।३।१५। ३. ३०२।३।१८।

कर लेना चाहिए। रहस्यवाद के असीम को ससीम शब्दो में बाँधना वास्तव मे सदा से कठिन रहा है। यही कारण है कि ब्रह्मज्ञ दृष्टाओं को भी अपनी रहस्यात्मक अनुभूतियो की अभिव्यक्ति के लिए अभिव्यञ्जना की कुछ विलक्षण प्रणालियो का आश्रय लेना पड़ा है। 'ऋग्वेद' में ही इस कोटि की प्रणालियो का विकास हो चला था। अध्यात्म अभिव्यक्ति की एक प्रणाली विरोधात्मक चमत्कार-प्रधान होती है। सन्त कवियो की उलटवासियाँ उन्हीके आधार पर विकसित हुई है। 'ऋग्वेद' में अदिति का वर्णन इसी प्रणाली मे किया गया है। कुछ स्थलों पर अग्नि का वर्णन भी इसी शैली में मिलता है। 'ऋग्वेद' मे रूपकात्मक और विभावनात्मक तथा विरोधात्मक शैलियो के भी विविध उदाहरण मिलते है। रूपकात्मक शैली का एक सुन्दर उदाहरण यह है—

चत्वारिश्रृंगास्त्रयोऽस्य पादा द्वे शीर्षे सप्तहस्तासोऽस्या।
त्रिधाबद्धोवृषभो रोरवीति महोदेवो मर्त्यां आविवेश ॥[1]

इस मत्र में दृष्टा ने बैल के रूपक के द्वारा गूढ आध्यात्मिक सिद्धातों का प्रतिपादन किया है। यहाँ आत्म-ज्ञान को ही वृषभ कहा गया है। वह सच्चिदानन्द स्वरूपी होने के कारण त्रिधाबद्ध कहा गया है। साधन चतुष्टय या चतुर्महावाक्य ही उनके चार शृङ्ग है। ब्रह्म बोध के प्रधान तीन साधन श्रवण, मनन, निदिध्यासन उसके तीन चरण है। जीवन और विदेह-मुक्ति ही उसके दो सिर है। चिदाभास की सात अवस्थाएँ (अविद्या, आवरण, विक्षेप, परोक्ष ज्ञान, अपरोक्ष ज्ञान. शोकापगम और तृप्ति) ही उस बैल की सात भुजाएँ है। मै धन्य हूँ, मै कृतकृत्य हूँ, इस प्रकार की ध्वनियाँ ही उस बैल का रव है। इसी प्रकार दो पक्षियों का यह रूपक भी बहुत प्रसिद्ध है। यह भी बड़ा ही मधुर है—

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।

---

१. ३।११।८।३।

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्य
नश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥

अर्थात् एक वृक्ष पर समान जाति के दो पक्षी मिलकर बैठे हुए हैं इनमें से एक तो मधुर फलों का उपयोग करता है किन्तु दूसरा पक्षी केवल देख रहा है।

इस प्रकार संहिताओ से सैकड़ो उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि रहस्यवाद की अभिव्यक्ति-प्रणालियो का श्री गणेश भी सहिताओं से हुआ है।

रहस्यवाद की जिन विविध प्रणालियो का जन्म वैदिक संहिताओं में हुआ था। उनका सम्यक् विकास उपनिषद्-साहित्य में हुआ। उपनिषदो मे उपयु क्त प्रणालियो के अतिरिक्त एक अन्योक्ति के ढग की आध्यात्मिक लघु कथाओं की नवीन अभिव्यक्ति प्रणाली-सी दिखाई दी। उदाहरण के लिए हम 'छान्दोग्योपनिषद्' का यह उद्धरण ले सकते है—

यथा सोम्य पुरुषं गंधारेभ्योऽभिनद्धाक्षमानीय तं ततोऽतिजने विसृजेत्स यथा तत्र प्राङ्वोदङ्वाऽधराङ्वा प्रत्यङ्वा प्रध्मायीताभिनद्धाक्ष आनीतोऽभिनद्धाक्षो विसृष्ट :।

तस्य यथाभिनहनं प्रमुच्य प्रब्रूयादेतां दिशं गंधारा एतां दिशं व्रजेति स ग्रामाद् ग्रामं पृच्छन् पण्डितो मेधावी गंधारानेवोपसंपद्येत एवमेवेहाचार्यवान् पुरुषो वेदतस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्य इति।[1]

इस अवतरण मे दृष्टा ने कथा के सहारे आध्यात्मिक खोज के इतिहास पर प्रकाश डाला है। इसमें एक पुरुष की कथा है जो एक बार कुछ लुटेरों के द्वारा अपनी जन्म-भूमि गाधार से एक निर्जन स्थान पर पट्टी बाँधकर ले जाया गया था। लुटेरों ने उस पुरुष को निर्जन स्थान में स्वतन्त्र कर दिया और स्वयं उसे छोड़कर चले गए। वह बेचारा वहाँ

१. ६।१४।१-२।

बहुत दिनों तक रोता और भटकता रहा। एक बार किसी सज्जन ने उसे गांधार देश का मार्ग दिखला दिया। फिर क्या था वह पुरुष पूछता-पूछता अपने निवास-स्थान पर पहुँच गया। यहाँ पर पुरुष जीव का प्रतीक है। लुटेरे माया और अज्ञान के वाचक है। निर्जन स्थान इस संसार का द्योतक है, गांधार देश ब्रह्म का सकेतक है। पथ बतलाने वाला पुरुष गुरु के स्थान पर माना जा सकता है इस प्रकार कथा के सहारे प्रतीकात्मक शैली में अन्योक्ति के ढंग पर आध्यात्मिक सत्यो की अभिव्यक्ति करने की परम्परा का श्री गणेश भी वैदिक साहित्य मे हो चला था। इस प्रकार की अभिव्यक्ति-प्रणाली का प्रभाव हमे मध्यकालीन सूफी सन्त कवियों पर स्पष्ट दिखलाई पडता है। उन्होंने अपनी कथाएँ इसी प्रकार की अन्योक्तिमूलक प्रतीकात्मक शैली मे लिखी है। इस दृष्टि से उपर्युक्त प्रकार की वैदिक अन्योक्तिप्रधान कथाओ का मध्यकालीन हिन्दी की रहस्य-भावना के स्वरूप को सँवारने में अच्छा हाथ रहा है।

अब मै औपनिषदिक रहस्यवाद की प्राणभूत विशेषता पर भी प्रकाश डाल देना चाहता हूँ। सम्पूर्ण वैदिक साहित्य का और विशेषकर उपनिषदों का मूल स्वर अद्वैतवाद है। इस अद्वैतवाद की अभिव्यक्ति उनमे बुद्धिमूलक तथा भाव-प्रधान दोनो ही प्रणालियो मे हुई है। उपनिषदों का भाव-प्रधान अद्वैतवाद उनके रहस्यवाद का मेरुदण्ड है। उपनिषदो में भावमूलक रहस्यवाद की बहुत-सी उक्तियाँ मिलती है, उदाहरण के लिए 'कठोपनिषद्' का यह मन्त्र लिया जा सकता है—

> एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा
> एकं रूपं बहुधा यः करोति।
> तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा
> स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥

अर्थात् जो एक सबको अपने आश्रय में रखने वाला और सम्पूर्ण रूपों का अंतरात्मा अपने एक रूप को ही अनेक प्रकार का कर लेता है।

अपनी बुद्धि में स्थित आत्मदेव का जो धीर पुरुष साक्षात्कार करते है उन्ही को शाश्वत सुख प्राप्त होता है। यहाँ पर कवि ने आत्मा का मानवीकरण किया है और उसे विविध रूप धारण करने वाला ध्वनित किया है। मानवीकरण की झलक से आध्यात्मिक उक्ति मे रहस्यात्मकता आ गई है। इस प्रकार के तथा इसमे भी अधिक रमणीय वर्णन उपनिषदो मे भरे पडे है। मध्यकालीन सन्तो पर इनका प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है।

सहिताओ और उपनिषदो में हमें अभिव्यक्तिमूलक रहस्यवाद के भी कुछ उदाहरण मिल जाते है। कही पर तो विरोधात्मक शैली अपनाई गई है और कही विभावनात्मक चित्र मिलते है। प्रतीकात्मक रूपको और अन्योक्तियो का सकेत हम ऊपर कर चुके है। इनके अतिरिक्त उपनिषदो मे कही कही आध्यात्मिक तथ्यों का वर्णन शैलीगत अद्‌भुतता की व्यञ्जना के सहारे किया गया है। उदारण के लिए हम 'कठोपनिषद्' के अश्वत्थ वृक्ष का उदाहरण ले सकते है वह इस प्रकार है--

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः ।
तदेव शुक्रं तद्‌ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ॥
तस्मिल्लोकाःश्रिताः सर्वे तदु नात्येतिकश्चन ।
एतद्वैतत् ॥

अर्थात् जिसका मूल ऊपर की ओर तथा शाखाएँ नीचे की ओर है ऐसा यह अश्वत्थ वृक्ष सनातन (अनादि) है। वही विशुद्ध ज्योति स्वरूप है, वही ब्रह्म है और वही अमृत कहा जाता है। सम्पूर्ण लोक उसीमे आश्रित है; कोई भी उसका अतिक्रमण नही कर सकता। यह निश्चय ही वह (ब्रह्म) है।

सक्षेप में वैदिक रहस्यवाद का स्वरूप यही है। हिन्दी के सन्त कवियों और कुछ सूफी कवियो को रहस्यवाद की इस धारा ने बहुत अधिक प्रभावित किया है। कबीर के रहस्यवाद का मूल स्वर वैदिक ही

है। जायसी में भी वैदिक रहस्यवाद की गहरी छाप दिखाई पडती है। यदि उनके रहस्यवाद की तुलना इस रहस्यवाद से की जाय तो बात बिलकुल स्पष्ट हो जायेगी। यहाँ हमारा लक्ष्य दोनो का तुलनात्मक निरूपण करना नही है वरन् जायसी और कबीर के रहस्यवाद की वैदिक पृष्ठभूमि स्पष्ट करना-मात्र है—

योगिक रहस्यवाद : योग-साधना भारत की एक अत्यन्त प्राचीन साधना है। 'ऋग्वेद' में भी इसके बीज मिलते है। 'ऋग्वेद' के मण्डल ६, सूक्त १८, मत्र ७, मे योग का स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है वह इस प्रकार है-—

यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितचन स धीनां योगमिन्वति।

अर्थात् विपश्चितो के भी कार्य बिना योग के सिद्ध नही होते है। चित्त-वृत्ति के विरोध का नाम योग है। इस योग-साधना का साङ्ग निरूपण पतजलि ने अपने 'योग सूत्र' मे किया। योग का विषय वैयक्तिक साधना से सम्बन्धित है। अन्य साधनो के समान इसका लक्ष्य भी आत्म-साक्षात्कार करना है। योगी अपने अन्तर में स्थित आत्मा के दर्शन प्राप्त करने के लिए सैकडों प्रकार के प्रयत्न करता है। यह सैकड़ो प्रकार के प्रयत्न वास्तव में योग के ही रूपान्तर हैं। किन्तु आजकल योग एक पारिभाषिक अर्थ मे प्रयुक्त होता है। 'योग सूत्र' में चित्तवृत्तियो के निरोध को योग कहा गया है। इस चित्तवृत्ति निरोध में सफलता प्राप्त करने के लिए योग के आठ अगो की साधना आवश्यक बतलाई गई है। वे आठ अग है—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारण, ध्यान, समाधि। योग सूत्रों मे इसी अष्टाग साधना का वर्णन किया गया है। योग एक अन्तर्मुखी साधना है। वैयक्तिक और अन्तर्मुखी होने के कारण योग-साधना मे जटिलता का समावेश हुआ। आगे चलकर विविध प्रकार के साधकों के हाथों में पड़कर योग साधना की गुह्यता और रहस्यात्मकता और भी अधिक बढ़ गई है। यद्यपि इस

साधना की रहस्यात्मकता और गुह्यता साधना की वस्तु है। उसे साहित्य-क्षेत्र में नही घसीटना चाहिए था। किन्तु कुछ भावुक साधकों ने योग-साधना के वर्णन वर्णनात्मक एवं शुष्क शैली मे न करके काव्यात्मक शैली में करना प्रारम्भ कर दिया। काव्यात्मकता के माध्यम से अभिव्यक्त की जाने के कारण यौगिक रहस्यात्मकता भी साहित्य के क्षेत्र में भी घसीटी गई और आचार्यो ने इसे साधनात्मक रहस्यवाद का अभिधान दिया। हमने इसके लिए अन्तर्मुखी रहस्यवाद का नाम अधिक उपयुक्त समझा है। क्योकि यौगिक रहस्य-वृत्तियो के अन्तर्मुखी करने पर ही अनुभूत होते है। इसलिए इन्हे अन्तर्मुखी रहस्यवाद का अभिधान देना अधिक तर्क सगत है। भारत में यह अन्तर्मुखी रहस्यवाद कई धाराओ मे प्रस्फुटित हुआ है —

१—शैव और शक्ति तन्त्रो मे

२—वज्रयान मे

३—नाथ पंथ में।

अन्तर्मुखी रहस्यवाद का उपर्युक्त तीनों धाराओं को समझे बिना कबीर-जायसी आदि के रहस्यवाद को समझना कठिन ही नही, वरन् असम्भव है। अतः हम प्रत्येक धारा का क्रमशः संक्षिप्त वर्णन कर देना चाहते है।

शैव और शाक्त तन्त्र : अब हम शैव और तन्त्रों में पाए जाने वाले रहस्यवाद का स्वरूप निरूपण करेंगे। शैव और शक्ति-साधना योग की आधार भूमि पर ही विकसित हुई है, किन्तु योग का स्वरूप तान्त्रिक आचार्यों ने अपने ढग पर निरूपित किया। तान्त्रिक साधना मे उसके रहस्यो के गोपन को बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है। 'बिम्बसार तंत्र' में लिखा है—

"प्रकाशात् सिद्धिहानिः स्यद्वामाचारगतौ प्रिये।
अतो वामपंथ देवि गोपाये मातृजारवत्॥

अर्थात् "हे प्रिये ! वामाचार-मार्ग में साधन को प्रकाशित करने से सिद्धि-हानि होती है, अतः हे देवि। वाममार्ग को माता के व्यभिचार के सदृश गुप्त रखना चाहिए।" उनकी इस प्रवृत्ति ने उनकी अभिव्यक्ति को गुह्यतिगुह्य बना दिया। अभिव्यक्तिमूलक रहस्यवाद की जननी यही प्रवृत्ति है।

तांत्रिकों ने अपनी साधना की गुह्यता पर जोर नहीं दिया है वरन् अपने सिद्धान्तों को भी गुप्त रखने की चेष्टा की है। इसके लिए उन्हे भावों को गुप्त रूप से प्रकट करने वाली विविध शैलियो का आश्रय लेना पड़ा। इन शैलियो में प्रतीक शैली सबसे अधिक अपनाई गई है। इसके फल स्वरूप इस साधना मे बड़े ही जटिल कोटि के यौगिक और अभिव्यक्तिमूलक रहस्यवाद का विकास हुआ। बौद्ध तांत्रिकों ने इस परम्परा का थोड़ी हेर-फेर के साथ पोषण किया और संत युग के कवियों ने इसे अपने ढग पर जीवित रखने की चेष्टा की है।

शैव और शाक्त तन्त्रों के रहस्यवाद का समूचा स्वरूप स्पष्ट करना वास्तव में बड़ा कठिन है और यदि उस दिशा मे प्रयत्न भी किया जाय तो उसके लिए बहुत अधिक स्थान की आवश्यकता है। अबकी बार मेरा दूसरा प्रयास इसी दिशा में होगा। यहाँ पर हम केवल अत्यन्त संक्षेप मे उसका सकेत करेंगे।

तान्त्रिक रहस्यवाद की सबसे प्रधान विशेषता उसकी सक्रियता है। उनके इस सक्रिय रहस्यवाद का स्वरूप-निरूपण करते हुए डी० एन० बोस ने अपने 'Tau rtras their Philosophy and Occult Secrets' नाम के ग्रन्थ में पृष्ठ १०५ पर प्रो० महेन्द्रनाथ सरकार के शब्दो मे समझाने की चेष्टा की है। यहाँ पर उसका कुछ अश उद्धृत कर देना अनुचित न होगा।

"Dynamic mysticism here in India has taken its chief empression in Vaishnavism and in

Tantricism. Both of them have a philosophic approach to Truth, and in spite of the differences in the cast of thought, their unanimity lies in the emphasis put upon the dynamic aspect of existence and upon psychic harmony of being as yielding final insight and access."

अर्थात् भारत में सक्रिय रहस्यवाद का विकास वैष्णव व शैव शाक्त ताँत्रिको मे हुआ है दोनो ने दार्शनिक ही ढग पर पारमार्थिक सत्ता तक पहुँचने की चेष्टा की है। यद्यपि उन दोनो के दार्शनिक विचारो मे अन्तर है। किन्तु वे दोनो ही पिण्ड और ब्रह्मांड के सक्रिय तादात्म्य की साधना में विश्वास करते है। उनके सक्रिय रहस्यवाद का यही प्रधान अग है। इनके लिए बौद्धिक और दार्शनिक पृष्ठभूमि केवल इसी अर्थ में महत्त्व रखती है कि बुद्धि सरलता से उस सक्रिय साधना को समझ सके। आत्म-रहस्यो को समझने के लिए भौतिक दृष्टि की आवश्यकता पड़ती है। इन प्रत्यक्ष रहस्यो को देखे बिना रहस्यानुभूति की प्रक्रिया, चाहे वह कल्पनामूलक हो और चाहे भावमूलक हो, पूर्ण नही होती है। पाश्चात्य विद्वान् Alers Corred ने अपनी पुस्तक (जिस पर उसने विश्व-विख्यात नोबल प्राइज प्राप्त किया था) में रहस्यवाद के साधनात्मक पक्ष पर बल देते हुए लिखा है—

"Mysticism in its highest state comprises a very elaborate technique. First, the practice of ascerticism, it is impossible to enter the realm of mysticity without ascetic practice as it is to become an athlete without submitting to physical training." (Man the Unknown)

अर्थात् "रहस्यवाद अपनी उच्चातिउच्च अवस्था मे एक विस्तृत क्रम का रूप धारण करता है और उसके लिए कठोर सयम की आवश्यकता रहती है। सबसे प्रथम वैराग्य की आवश्यकता होती है। बिना

वैराग्य धारण किये हुए रहस्य-लोक में प्रवेश पाना ठीक उसी प्रकार असम्भव है जिस प्रकार बिना व्यायाम के किसी का पहलवान होना।"

तान्त्रिक रहस्यवाद की आधार भूमि योग है जैसा कि अभी संकेत कर चुके है कि किसी भी प्रकार के रहस्यवादी क्षेत्र मे प्रवेश पाने के लिए पहले सयम, नियम और वैराग्य की आवश्यकता होती है। तान्त्रिक साधना मे सयम और नियम का विधान पचतत्त्व साधना के रूप मे किया गया है। यह पच-तत्त्व-साधना क्या है। इस पर थोड़ा-सा विचार कर लेना चाहिए।

हम अभी ऊपर कह चुके है कि तान्त्रिक लोग अपनी साधना के रहस्यो को सर्वगम्य बनाना नही चाहते है। यही कारण हैं कि उन्होने अपनी साधना के सिद्धान्तो की अभिव्यक्ति प्रतीको के सहारे से की है। पचतत्त्व साधना की अभिव्यक्ति भी प्रतीक शैली मे हुई है। तन्त्रो में पाँच तत्त्वो के लिए पच मकारो के प्रतीको की कल्पना की है। इन प्रतीको के रहस्यो को समझे बिना लोग पच-तत्त्व-साधना के आधार पर तान्त्रिको की घोर निन्दा करते है, किन्तु यह निन्दको की भूल है। तत्रों में साधको के तीन प्रकार माने गए है--

(१) दिव्य

(२) वीर

(३) पशु

इन्हे हम क्रमश. सतोगुणी रजोगुणी कह सकते है। पच मकारो का प्रतीकात्मक अर्थ भी इन साधको के भाव के अनुकूल लगाया जाता है। इनमे से किसी भी भाव मे पच मकारो का अर्थ अभिधामूलक स्वीकार नही किया गया है। पंच मकार या पच तत्त्वो के प्रतीकात्मक नाम इस प्रकार है--

(१) मद्य

(२) मास

(३) मत्स्य

(४) मैथुन

(५) मुद्रा।

कुलार्णव तंत्र मे प्रथम दो के अर्थो को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

सुराशक्तिः शिवोमांसं

अर्थात् "शक्ति ही सुरा है और शिव ही मांस है।" इन दोनों का योग स्थापित करना तान्त्रिक साधना का लक्ष्य है। इन दोनो का योग ही मैथुन है। आगमसार तंत्र में मत्स्य को वायु का प्रतीक माना गया है।[1] इसी प्रकार उसमे मुद्रा को सहस्रार मे होने वाले ज्ञान का प्रतीक माना है।[2] पच मकारो का इस प्रकार योगपरक सात्विक अर्थ केवल दिव्य और वीर साधको के लिए ही नही पशु साधक भी इनका अभिधामूलक अर्थ नही लगा सकते। 'शक्ति और शाक्त' नामक ग्रन्थ मे Woodroffe साहब ने पशु तान्त्रिको के अनुसार पच मकारो का स्पष्टीकरण देखिए निम्नलिखित शब्दो मे किया गया है—

"In lieu of wine पशु should if Brahaman take milk, if Chhatri ghee, if a Vaish honey, and if Shudra liquor made of rice."[3]

इसी प्रकार और चार तत्त्वो का स्पष्टीकरण भी किया गया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि तान्त्रिक साधना में सात्विकता का स्थान है।[3]

तांत्रिक साधना में संयम नियमो को भी महत्त्व दिया गया है।

---

१. देखिए 'Shakti of the Shaht' by Arthur page 60.

२. ,, ,, ,, page 60.

३. ,, ,, ,, page 60.

'तंत्र शास्त्र' में देखिए मद्य, मास मैथुन आदि का कितना निषेध किया गया है —

असंस्कृत पिबेद् द्रव्यं बलात्कारेण मैथुनम् ।
स्व प्रियेण हतं मांस रौरवे नरकं व्रजेत् ॥

अर्थात् "जो असभ्य कौल असस्कृत मदिरा पीना चाहता है वह बलात्कार मे रुचि रखता है और आत्म-सुख के लिए पशु-हिंसा करना चाहता है। वह रौरव नरक में जाता है।"[1] तंत्र-ग्रन्थों में इस प्रकार के सैकड़ों उद्धरण भरे पड़े है जिनमे संयम-नियम की बातों पर बल दिया गया है।

इस प्रकार पच-तत्त्व की साधना तथा संयम-नियम से अपने को शुद्ध करके तान्त्रिक योग की ओर अग्रसर होता है। उसकी साधना ही साधनात्मक रहस्यों का अक्षय कोष है। कबीर-जायसी आदि पर इनके इस साधनात्मक रहस्यों का प्रभाव पड़ा है। कबीर आदि साधकों ने तंत्रो के सैकडो पारिभाषिक शब्दो को लेकर अपना अभिव्यक्तिमूलक रहस्यवाद खडा किया है।[2] इनका विस्तृत विवेचन किसी दूसरे प्रसग मे किया जायगा। यहाँ अत्यन्त सक्षेप मे हम तान्त्रिको की योग-साधना का सकेत-मात्र करेगे। तान्त्रिको की योग-साधना कुण्डलिनी योग कहलाती है। इसे कुछ लोग शब्द-योग-साधना भी कहते है।

तान्त्रिको की शब्द-योग-साधना से कबीर आदि का रहस्यवाद बहुत अधिक प्रभावित है। यहाँ पर संक्षेप में उस पर विचार करेंगे। तान्त्रिकों की शब्द-योग-साधना समझने में उनके दार्शनिक पक्ष को समझ लेना चाहिए। तान्त्रिक शक्तिवादी होते है। शंकर का ब्रह्म अद्वैत और निरुपाधि है। किन्तु तांत्रिकों का शिव अद्वैती होते हुए भी

---

१. देखिए 'Principles of Tantras' page 715.

२. देखिए 'कबीर की विचार-धारा' लेखक गो० श० त्रिगुणायत पृष्ठ ४४१।

सोपाधि कहा जा सकता है। क्योंकि शिव में चित् शक्ति समवाय रूप से विद्यमान रहती है। इस चित् शक्ति के आधार पर ही आत्मा या शिव को चित् स्वरूपी भी कहते हैं। वह प्रकाश रूप है। इस चित्स्वरूपी शिव या आत्मा में एक विमर्श नामक शक्ति भी सन्निविष्ट रहती है वह उससे अभिन्न होती है। यह शक्ति वाक्‌रूपा है। इसीको नाद कहते हैं, इसीको प्राण कहते हैं और इसे ही हम विश्व-शक्ति का समष्टि रूप मानते हैं। इस नाद से ही विश्व का विकास हुआ है। इस शक्ति में ही अ से लेकर क्ष तक अक्षर-ध्वनियाँ निहित रहती हैं। यह परावाक् ही मध्यमा पश्यन्ती परा और सूक्ष्मा आदि का रूप धारण करती है। पिण्ड में इसका निवास-स्थान सहस्रार माना जाता है। इसी को शिव भी कहते हैं। अनहद नाद भी यही है। मूलाधार में इसी शक्ति का स्थूल व्यष्टि रूप माना जाता है। इसीको जीवन-शक्ति कहते हैं। इसीको कुण्डलिनी कहते हैं। जब जीव-शक्तियाँ कुण्डलिनी चलित की जाती हैं तब वह क्रमशः अक्षरों को प्रकट करती हुई सहस्रार में स्थित शिव से मिल जाती है। यही शिव-शक्ति मिलन-स्थल है। जीव-शक्ति को शिव तक पहुँचने में एक पूर्ण मार्ग पार करना पड़ता है। इस मार्ग का वर्णन भिन्न-भिन्न तंत्रों में भिन्न-भिन्न प्रकार से किया गया है। कुछ लोग तो इस मार्ग में केवल षट्चक्र मानते हैं और कुछ नौ चक्र मानते हैं। कुछ तंत्रों में इस मार्ग का बड़ा सूक्ष्म वर्णन किया गया है। अधिक मान्य मत षट्चक्रों का ही है। इनका वर्णन कबीर के रहस्यवाद के प्रसंग में किया जा चुका है, अतः यहाँ पर दोहराना नहीं चाहते हैं। इस विषय का विस्तृत वर्णन हम किसी दूसरे स्थल पर करेंगे।

यहाँ पर बिन्दु के सम्बन्ध में दो-एक शब्द अवश्य बता देना चाहते हैं। क्योंकि कबीर आदि संतों में इसका बार-बार उल्लेख किया गया है। तंत्र-ग्रंथों में बिन्दु और महाबिन्दु शब्द प्रयुक्त हुए हैं। इन

दोनों के प्रयोग भी दो रूपों में हुए हैं। एक दर्शन-क्षेत्र में और दूसरा साधना-क्षेत्र में। दर्शन-क्षेत्र में भी बिन्दु के सम्बन्ध में विद्वानो मे मतैक्य नही है। द्वैतवादी तान्त्रिक शिव-शक्ति और बिन्दु तीन तत्त्व मानते है। अद्वैतवादी तांत्रिक बिन्दु और शक्ति को शिव की ही दो विभूतियां समझते है वे पराशिव में ही अन्तर्निहित रहती है। वे विश्व-विकास के समय प्रस्फुटित होती है। इनके अनुसार बिन्दु का ही दूसरा नाम महामाया है। नाद इसी बिन्दु का व्यक्त रूप है। इस दृष्टि से कुछ तान्त्रिकों के अनुसार बिन्दु ही अव्यक्त कुण्डलिनी शक्ति है। उसके व्यक्त होने पर नाद उत्पन्न होता है या यो कह सकते है उसका व्यक्त रूप ही नाद है। इस प्रकार बिन्दु के सम्बन्ध में तान्त्रिको में बहुत भेद है। जो भी हो हम बिन्दु को शक्ति का अव्यक्त रूप कहेगे और स्वाद को उसका व्यक्त रूप कहेंगे। समष्टि रूप में वह विश्व का कारण है और व्यष्टि रूप में वह पिण्ड का कारण है।

बिन्दु और महाबिन्दु शक्ति के शिव तक पहुँचने के मार्ग के बीच के दो पड़ाव भी माने जाते है। कुण्डलिनी शक्ति, बिन्दु और महाबिंदु को पार करके ही अकुल या शिव तक पहुँचती है। सक्षेप में तान्त्रिक रहस्यवाद की आधार-भूमि यही कुल कुण्डलिनी योग या नाद-बिन्दु-साधना है।

बौद्ध तान्त्रिक—तान्त्रिकों की उपयुक्त नाद बिन्दु-साधना या कुल कुण्डलिनी योग का विकास सिद्धो में भी हुआ। किंतु उसको उन्होंने अपने अनुरूप ही रूप दिया। ये सिद्ध लोग बौद्ध तांत्रिक भी कहलाते है। इन बौद्ध तांत्रिकों को वज्रयानी भी कहतें है। मंत्र यान, सहज यान कालचक्र यान आदि इसीकी शाखाएँ है। वज्रयान के चार अंग माने जाते है—

(१) क्रिया तंत्र।
(२) चर्या तंत्र।

(६) योग तंत्र ।

(४) अनुत्तर योग तंत्र ।

क्रिया तंत्र और चर्या तंत्र में धार्मिक विधि-विधानों को महत्त्व दिया गया है। योग तंत्र और अनुत्तर तंत्र में क्रमशः योग-साधना तथा ब्रह्म-चर्चा मिलती है। वैडेल साहब ने अपने ग्रन्थ 'लामाइज्म'[१] में प्रथम दो अगों को निम्नतर-तंत्र और अन्तिम दो को उच्चतर-तंत्र कहा है। सात्विक साधकों के लिए अन्तिम दो अग ही आचरणीय माने गए हैं। तमोगुणी साधक प्रथम दो का ही पालन कर सकते है। वज्रयान के उपर्युक्त चार विभाग थोड़े हेरफेर के साथ वैष्णव तंत्रों मे भी मिलते है. वे क्रमशः चर्यापद क्रियापद, योगपद, और ज्ञानपद है। इससे स्पष्ट है कि वज्रयान और वैष्णव स्थूल रूप से बहुत मिलते-जुलते हैं। जहाँ योग पक्ष का सम्बन्ध है वज्रयान मे इसको विशेष महत्त्व दिया गया है। रहस्यवाद का सम्बन्ध वज्रयान के इसी स्वरूप से है, अतः यहाँ पर संक्षेप मे उसका वर्णन किया जाता है।

वज्रयानियों की योग-साधना हिन्दू तान्त्रिकों से बहुत मिलती-जुलती है। किन्तु फिर भी दोनों की साधना की सूक्ष्म बाते एक-दूसरे से भिन्न है, आगे के विवेचन से बात स्पष्ट हो जायगी। तान्त्रिक योग-रहस्यो का सकेत करने से पहले हम थोडा-सा उसकी धार्मिक बातों और विश्वासो की ओर संकेत कर देना आवश्यक समझते हैं।

बौद्ध तांत्रिकों के प्रज्ञा, उपाय और महासुख के सिद्धान्त बहुत प्रसिद्ध है - जिस प्रकार हिन्दू तंत्र में शिव और शक्ति का सुहाग स्थापित करने के लिए योग-साधना का विधान मिलता है, उसी प्रकार बौद्ध तन्त्रों में प्रज्ञा और उपाय को एक करने के लिए योग का वर्णन किया गया है। प्रज्ञा और उपाय क्रमशः स्त्री-शक्ति और पुरुष-शक्ति के वाचक है।

---

१. पृष्ठ १६०, १५२।

बौद्ध-तन्त्रों में इस प्रज्ञा के बहुत-से पर्याय प्रचलित है। इनमें मुद्रा, महामुद्रा, वज्रकन्या, योनि, युवती, भगनी, रजकी, नर्तकी, धृतिका, डोम्बी आदि प्रमुख है।[१] इसी प्रकार का उपाय लिंग-पुरुष आदि के लिए भी प्रयुक्त होना है।

इस प्रज्ञा और उपाय के लिए नाड़ीपरक पर्याय भी बौद्ध तन्त्रों में प्रचलित है; इन्हें इड़ा और पिंगला भी कहते है। ललना और रसना भी इन्ही के नाम है।[२] अवधूती इन दोनों के मध्य की नाडी होती है, इसे अवधूत कहते है। हिन्दू-तन्त्रों में यही सुषुम्ना कहलाती है। बौद्ध तन्त्रों में इसे महासुख का स्थान मानते है। जिस प्रकार हिन्दू-तन्त्रों की साधना का लक्ष्य मूलाधार की शक्ति को सहस्रार के शिव से मिलाना होता है, उसी प्रकार बौद्ध तन्त्रों में प्रज्ञा और उपाय का सुहाग स्थापित करने पर विशेष बल दिया गया है। प्रज्ञा और उपाय की योग-साधना में भी चक्रों का भेदन करना पड़ता है।

बौद्ध-तन्त्रों मे केवल चार चक्रों को ही महत्त्व दिया गया है। हिन्दू तन्त्रो के षट्चक्रों में से केवल तीन चक्र ही बौद्ध-तन्त्रो मे वर्णित किये गए हैं। वह क्रमश मणिपुर चक्र, अनाहत चक्र और विशुद्धचक्र है। हिन्दू-तन्त्रो का सहस्रार बौद्ध-तन्त्रो में उष्णीम कमल के नाम से उल्लिखित मिलता है। कुछ बौद्ध-तन्त्रो में इसे महासुखचक्र भी कहा गया है। सैको-द्देश[३] टीका मे इन चक्रो का विस्तृत वर्णन किया गया है। उसके अनु-सार मस्तक चक्र मे सोलह दल होते है। तथा नाभि कमल मे ६४ दल माने जाते है। इस विषय का यहाँ पर अधिक विस्तार न करके किसी

१ देखिए—'Introduction to Tantrik Budhism,' by S. B Das Gupta page 114.

२ देखिए —'Introduction to Tantric Budhism' by S. B. Das Gupta ,page 118.

३ सेकोद्देश टीका gos पृष्ठ २७ पर देखिए।

दूसरे समय इस पर विस्तार से विचार करेंगे।

अब यहाँ पर सहज और शून्य इन दो शब्दों पर थोडा-सा विचार कर लेना चाहते है। क्योकि कबीर आदि रहस्यवादियों मे इन दोनों शब्दों का बहुत प्रयोग किया गया है।

पहले हम सहज शब्द को स्पष्ट कर देना चाहते हैं। शशिभूषण गुप्ता ने अपने Obscuse Religious Cults[1] नामक ग्रन्थ में इस शब्द के स्वरूप और अर्थ पर अच्छा प्रकाश डाला है।

उनके मतानुसार सहज का शाब्दिक अर्थ है—वह जो साथ ही उत्पन्न हो (सह जायते इति सहज); अत सहज वह तत्त्व हुआ जिसे समस्त धर्म अपनी उत्पत्ति के साथ ही समवाय रूप से सन्निहित रखते है। वास्तव मे यह धर्म का सार रूप है। क्योकि महासुख को सब धर्मो का सार रूप मानते है। इसलिए महासुख सहज रूप हुआ। हेवज्रतन्त्र में लिखा है कि समस्त ससार ही सहज स्वभाव वाला है, क्योकि सहज सबका सार स्वरूप है। इसी सहज स्वरूप को निर्वाण भी मानते है। निर्वाण रूप मे इसकी अनुभूति उनको होती है जो शुद्ध चित्स्वरूप हो गए है। यद्यपि सहज महासुख के रूप मे इस शरीर के द्वारा ही अनुभूत किया जाता है किन्तु इसे कोई भौतिक वस्तु नही समझना चाहिए।

सबका सार रूप होने के कारण यह पारमार्थिक सत्य स्वरूप कहा जा सकता है। यह निरुपाधि और सोपाधि दोनों स्वरूपो में पाया जाता है। इस प्रकार हम देखते है कि बौद्ध तांत्रिको के यहाँ यह सहज शब्द ब्रह्म का पर्यायवाची है। इसका प्रयोग निरुपाधि और सोपाधि ब्रह्म के दोनो स्वरूपो का बोध कराने के लिए किया जाता है। यह ब्रह्माण्ड और पिण्ड दोनो विद्यमान है। यह अद्वैतरूप और अखण्ड है। इससे स्पष्ट है कि वज्रयान की सहजयान शाखा भी अद्वैतमूलक है। इस सहज के

१ पृष्ठ ६० पर देखिए।

सद्वारे सिद्धों ने बहुत-सी रहस्याभिव्यक्तियाँ खड़ी की है। उन्हीके आधार पर निर्गुणी कवियो ने भी सहज का प्रयोग रहस्यात्मक ढग मे किया है।

अब हम शून्य शब्द को स्पष्ट कर देना चाहते है। शून्य शब्द का भी एक लम्बा-चौड़ा इतिहास है। यहाँ पर उसका विस्तृत वर्णन करना असम्भव ही नही अनावश्यक भी है। शून्य शब्द का दार्शनिक निरूपण सर्वप्रथम बौद्ध दर्शन मे किया गया था। बौद्ध धर्म की दो प्रमुख धाराएँ है—हीनयान और महायान। शून्य का प्रयोग दोनो धाराओ मे किया गया है। किन्तु दोनो के स्वरूप और अर्थ मे अन्तर है। इस अतर को समझाते हुए 'Aspects of Mahayan Budhism' नामक ग्रन्थ मे N. Dutt साहब ने इस प्रकार लिखा है—

"हीनयानी शून्य शब्द की सीधी-सादी परिभाषा देते है। उनका कहना है कि जगत् विविध व्यक्तित्व या व्यक्तित्व-संबंधी बातों से रहित होने के कारण शून्य कहा जाता है। किन्तु महायानी केवल व्यक्तित्व-विहीनता को ही शून्य की अवस्था नहीं मानते है। उनके अनुसार तथागतता, निर्वाण, आकाश आदि सभी कुछ शून्य है। वास्तव मे तथागत इस प्रकार के बंध्या-पुत्र के सदृश्य विरोधात्मक शब्दों के झगड़े मे नहीं पड़ते है।"

माध्यमिक आचार्यो ने शून्य की कल्पना के कारण को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि किसी भी पदार्थ के स्वरूप-निर्णय मे चार प्रकार की शैलियाँ होती है। वे क्रमशः अस्ति, नास्ति, तदुभय तथा नोभय है, किंतु माध्यमिक परम तत्त्व का बोध इनमें से किसी भी शैली मे नही किया जा सकता है। क्योकि वह अवाङ्मनसाग्र गोचर एवं अनिवर्चनीय है। उसका बोध यदि किसी भी शब्द से किया जा सकता है तो शून्य शब्द

१ 'Aspects of mahayan Budhism', by N. Dutt page 47.

से किया जा सकता है। इस प्रकार माध्यमिक मत में शून्य पारमार्थिक सत्ता का वाचक हुआ।

बौद्ध सिद्धो ने भी शून्य शब्द का बार-बार प्रयोग किया है। उन्होंने शू य का अर्थ द्वैताद्वैत विलक्षण तत्त्व लिया है। बौद्ध-तंत्रों में बोध चित्ति की पारमार्थिक सत्ता कल्पित की गई है। बोधचित्ति-शून्यता या प्रज्ञा और करुणा या उपाय का समन्वित रूप है। इन दोनों के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए S. B. Das Gupta ने अपने 'Obscure Religious Cults' नामक ग्रन्थ मे पृष्ठ ३९१ पर लिखा है–"Cosmologically (प्रज्ञा) is pure consciousness and perfect enlightenment and is the principle of pure passivity (उपाय) is the world forced. It is the dynamic principle through the activities of which the phenomenal world come into existence." अर्थात् विश्व-विकास की दृष्टि से प्रज्ञा या शून्यता शुद्ध चित् तत्त्व है। यह प्रकाश और स्थिर रूप रहता है इसके उपाय सक्रिय तत्त्व है। इसीके प्रभाव से प्रज्ञा में क्षोभ उत्पन्न होता है, जिसके फलस्वरूप विश्व का विकास होता है।" इस आधार पर कभी-कभी शून्य का प्रयोग चित्तस्वरूपी स्थिर प्रकाश रूप सत्ता के अर्थ में किया जाता है। वज्रयानी सिद्धों में इसका प्रयोग प्रायः इसी अर्थ में किया गया है। कहीं-कहीं कबीर आदि सन्तों ने शून्य का प्रयोग इसी अर्थ में किया गया है। संक्षेप में तान्त्रिक बौद्धों के रहस्यवाद का स्वरूप यही है।

कुछ लोग तो नाथ पंथ को भी तांत्रिक बौद्धों का ही एक सम्प्रदाय मानते हैं। किन्तु यह शैव और बौद्ध तांत्रिकों की साधना के सम्मिश्रण से तैयार किया हुआ नया साधना-प्रधान सम्प्रदाय है। हमारी समझ में साधना की दृष्टि से नाथ-सम्प्रदाय के भी दो भेद है--एक मत्स्येन्द्रनाथी साधना और दूसरी गोरखपंथी साधना। मत्स्येन्द्रनाथी योग-साधना को

योगनी कौलमार्ग[1] कहा गया है। गोरखपंथी साधना को नाथपंथी साधना-मार्ग कहा जाता है। हमारी समझ में यह नाम-संबंधी अन्तर उनके कुछ धार्मिक और दार्शनिक मतभेदों का द्योतक है। साधना की दृष्टि से इन दोनों में कोई विशेष मौलिक अन्तर नही है, जो थोडा-बहुत अन्तर दिखाई पडता है उसका कारण यह है कि योगिनी कौल पथ मे हटयोग या कुल कुण्डलिनीयोग को विशेष महत्त्व दिया गया है और गोरख के नाथ-पथ में मन्त्र और पवन-साधना को विशेष मान्यता दी गई है। दोनो ही साधनाएँ मिलकर मत्स्येन्द्रनाथी योग-साधना के अभिधान से प्रसिद्ध है। इनकी योग-साधनाओं का सामान्य विस्तृत विवेचन 'शिव सहिता', 'हठयोग प्रदीपिका', 'घेरंड सहिता', 'योगोपनिषद्' आदि ग्रंथों में किया गया है। यदि दोनों की साधनाओ के अलग-अलग स्वरूपों को देखना हो तो मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथ के ग्रंथों को अलग-अलग स्वतंत्र रूप में देखना चाहिए।

सामान्य रूप से नाथपथियो का योग हठयोग के नाम से प्रसिद्ध है। हठयोग के अर्थ को 'हठयोग प्रदीपिका' की टीका मे इस प्रकार समझाने की चेष्टा की गई है --

"हश्च ठश्च हठौ सूर्यचन्द्रौ, तयोर्योगो हठयोगः। एतेन हठशब्द-वाच्योः सूर्यचन्द्राख्ययोः प्राणापानयोरैक्य लक्षणः प्राणायामो हठयोग इति हठयोगस्य लक्षणं सिद्धम्।[2]

अर्थात् 'ह' का अर्थ है, सूर्य 'ठ' का अर्थ है चन्द्र, इस प्रकार सूर्य और चन्द्र के योग को हठयोग कहा गया है। कुछ लोग सूर्य और चन्द्र से प्राण और अपान का अर्थ लेकर हठयोग का अर्थ 'प्राणापान एक्यरूप' प्राणायाम मानते है। 'सिद्ध सिद्धान्त पद्धति' मे गोरखनाथजी ने भी 'हठ' शब्द की व्याख्या कुछ इसी प्रकार की है --

---

१ 'कौल-ज्ञान निर्णय' द्वारा पी० सी० बागची, पृष्ठ ३५ देखिए।

२ 'हठयोग-प्रदीपिका', श्रीनिवास आयंगर, पेज ३ पार्ट २।

"हकारः कीर्तितः सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्यते ।
सूर्याचन्द्रमसोर्योगाद्धठयोगो निगद्यते ।।"

इस प्रकार स्पष्ट है कि नाथ-पंथ में सूर्य और चन्द्र के योग के लिए जो साधना की जाती है उसीको हठ योग कहा गया है । इस हठ योग के विविध अगों व उपांगो के विस्तृत वर्णन हमें नाथपथी ग्रंथों में मिलते हैं । 'पातजल हटयोग' में कुछ निश्चित यम, नियम, आसन आदि का ही उल्लेख किया गया था । किन्तु मत्स्येन्द्रनाथी योग-धारा में हठ योग के इन अगो और उपागो का बडा ही जटिल विस्तार किया गया है । नाथ पंथी हठयोग की इस जटिलता का प्रभाव कबीर और जायसी दोनों के रहस्य-वाद पर पडा है। उनके रहस्यवाद का विवेचन करते समय हम उनका उल्लेख कर चुके है । अतएव यहाँ पर पिष्टपेषण करके विषय-विस्तार नहीं करेंगे ।

सूफी रहस्यवाद और जायसी

सूफी मत अन्ध-विश्वास-प्रधान शुष्क इसलाम धर्म की प्रतिक्रिया के रूप में उदय हुआ था । इसलाम धर्म में बुद्धिव दी भावना के लिए कोई स्थान ही नही है । बुद्धिमान भावुक मुसलमानों से इसलाम धर्म की यह अपूर्णता न देखी जा सकी, इसलिए उन्होंने सूफी-भावना को जन्म दिया । सूफी मत के उदय होने का एक और कारण है; वह है मानव का लौकिक रीति के प्रति अटट लगाव । मनुष्य कभी भी इस रति से पूर्ण विरति नही प्राप्त कर सका है । सृष्टि के विकास का भी मूल कारण यही लौकिक रति या वासना ही है । 'बृहदरण्यकोपनिषद्' में स्पष्ट लिखा है कि आदि पुरुष ने रमण की कामना से ही द्विधा फिर बहुधा रूप धारण किया । परम पुरुष की इस रमण-कामना की तृप्ति के हेतु भिन्न-भिन्न धर्मो में भिन्न-भिन्न प्रकार के साधनों की जुटाने की चेष्टा की गई । विश्व के समस्त प्राचीन सभ्य देशों में देवदासी की प्रथा का

पाया जाना इस बात का पुष्ट प्रमाण है।[1] धर्म में अंकुरित होने वाली इसी मादन भाव की अभिव्यक्ति सूफी मत मे अलौकिकता का बाना पहनाकर प्रतिष्ठित की गई है। इसलाम में लौकिक रति को केवल उतना ही महत्त्व दिया गया था जितना कि समाज को सुचारु रूप से संचालित करने के लिए आवश्यक समझा गया था। उसमे अनियन्त्रित प्रणय के लिए कोई स्थान ही न था। इसीलिए भावुक सूफियों ने एक ऐसे मत की प्रतिष्ठा की जिसमें अलौकिक भक्ति के साथ-साथ लौकिक रति को भी महत्त्व दिया गया। "परदे बुताँ में नूरे खुदा देखते हैं" वाली बात इसी लौकिक परिधान मे सुसज्जित अलौकिक रति का सदेश देती है। इस प्रकार सूफियो में लौकिक एवं अलौकिक दोनो प्रकार क रति-भावना की अभिव्यक्ति में अपनी सारी शक्ति लगादी। पहले ये सूफी अधिकतर सत और साधु व्यक्ति ही थे। अतएव वे लौकिक रति को अलौकिक रति तक पहुँचने का एक सोपान-मात्र समझते थे। बाद में चलकर लौकिक रति के प्रति ही इनका लगाव रह गया। अलौकिक रति की भावना केवल नाम-मात्र के लिए ही अवशिष्ट रह गई। इस प्रकार रति-भावना सूफी सम्प्रदाय के इतिहास में सदैव ही किसी-न-किसी रूप में प्रतिष्ठा पाती रही है। इसीलिए इसे सूफी-साधना की आधार-भूमि कहते है।

रति-भावना का सम्बन्ध सौंदर्य और प्रेम से है। सूफियों ने अधिकतर 'हक' या ईश्वर की कल्पना इसीलिए या तो सौदर्य रूप में की है या प्रेम रूप में। प्रसिद्ध सूफी इब्ने सेना सौन्दर्यवादी थे और मसूर हल्लाज प्रेमवादी। जायसी के पद्मावत पर इन दोनो का ही पूरा-पूरा प्रभाव दिखलाई पड़ता है। उनका समस्त काव्य सौन्दर्य और प्रेम की मधुर भावना से विभोर है। अत्यन्त संक्षेप मे हम यहाँ पर 'पद्मावत' में

१. देखिए 'सरस्वती भवन स्टडीज', वाल्यूम ८ में मन्मथनाथ का लेख।

पाई जाने वाली सौन्दर्य-भावना और प्रेम-भावना पर दो-चार शब्द कह देना चाहते है।

जायसी का सौन्दर्य-चित्रण सर्वत्र ही अलौकिक है। जहाँ पर लौकिक सौन्दर्य का भी वर्णन किया है वहाँ पर बीच-बीच मे समासोक्ति के सहारे उसकी अलौकिकता व्यंजित कर दी है। पद्मावती अपने केशों को खोलकर उन्हे सँवारना चाहती है। उसके केश इतने काले है कि स्वर्ग और पाताल मे भी अन्धकार छा जाता है —

बेनि छोरि झार जो बारा।
स्वर्ग पतार होई अँधियारा ॥

सौन्दर्य की यह विराट् भावना ही जायसी के काव्य का प्राण है। इसकी अभिव्यक्ति उन्होने पद्मिनी को विराट् ब्रह्म के रूप मे कल्पित करके और भी सुन्दर ढंग से की है। देखिए निम्नलिखित पंक्तियों में जायसी ने विराट् ब्रह्म रूपिणी पद्मिनी के विराट् सौन्दर्य का चित्रण कितने सुन्दर ढग से किया है। इन पंक्तियों पर सूफी रहस्य-भावना की पूरी छाप दिखलाई पड़ती है। सूफी रहस्य-भावना के साथ-ही-साथ औपनिषदिक प्रतिबिंबवाद ने स्वर्ण-सुगन्ध सयोग उत्पन्न कर दिया है—

कहा मानसर चाह सो पाई। पारस रूप यहाँ लगि आई ॥
भा निर्मल तिन पायन परसे। पावा रूप रूप के दरसे ॥
मलय समीर बास तनु आई। भा सीतल गए तपन बुझाई ॥
न जनौ कौन पौन ले आवा। पुन्य दशा भई पाप गवाँवा ।
ततखन हार बेग उतराना। पावा सखीन्ह चन्द विहँसाना ॥
बिगसा कुमुद देख ससि देखा। भई तहँ ओप जहाँ जोइ देखा ॥
पावा रूप रूप जस चाहा। ससिमुख जनु दरपन होई रहा ॥

इस प्रकार हम देखते है कि जायसी की सौन्दर्य-भावना और अभि-व्यक्ति सूफियो से बहुत प्रभावित है। जायसी ने जिस सौन्दर्य का वर्णन किया है उसमें एक विचित्र पवित्रता है, एक अलौकिक आनन्द विधायक

विशेषता है। उस दिव्य सौन्दर्य के साक्षात्कार से अज्ञान का अन्धकार नष्ट हो जाता है। जन्म-जन्मान्तर के पाप धुल जाते है उपर्युक्त पंक्तियों में साक्षात्कार की इसी स्थिति का चित्रण किया गया है। इसी प्रकार एक दूसरे स्थल पर उन्होंने एक ऐसा ही और चित्रित किया है वह इस प्रकार है—

देखि मानसर रूप सुहावा। हिय हुलास पुरइन होई छावा॥
गा अंधियार रैन मसि छूटी। भा भिनसार किरन रवि फूटी॥

यही सौन्दर्य भावना प्रेम का मूल कारण है। इसीलिए सूफियों ने प्रेम तत्त्व को अत्यधिक महत्व दिया है। यह प्रेम तत्त्व सूफियों के अनुसार अत्यधिक विरह विशिष्ट होता है। और तर्क से रहित होता है। जलालुद्दीन रूमी ने प्रेम का वर्णन करते हुए देखिए उसकी कितनी सुन्दर व्य.ख्या दी है—

'Tis heartache lays the lover's passions fare,
No sickness with heart-sickness may compare.
Love is a malody apart, the sign,
And astrolabe of mystries Divine.
Whether of heavenly mould or earthly cast,
love still doth lead us yonder at the last.
Reason,explaining Love, can naught but flounder,
Like ass in mire; Love is Love's own expounder
Does not the sun himself the sun declare ?
Behold him: all the proof thou seek'st is there.[1]

अर्थात् हृदय की पीड़ा प्रेमी के प्रेम की अभिव्यक्ति कर देती है। इस हृदय की वेदना से किसी अन्य वेदना की तुलना नहीं की जा सकती है। प्रेम एक अलग ही रोग है, जिसमें दैवी विभूतियों की अनुभूति होती

१. ('Rumi' by Nicholson page 43)।

है। यही प्रेम हमें आगे ले जाता है। इसकी अभिव्यक्ति और व्याख्या तर्क के सहारे नही की जा सकती प्रेम स्वयं ही अपना व्याख्याकार होता है। वह ठीक उसी तरह से है जिस तरह से सूर्य होता है। सूर्य अपना प्रमाण स्वय है। प्रेम भी स्वय प्रमाणरूप होता है।" एक स्थल पर इमरसन[1] ने भी इसी भावना को अभिव्यक्ति दूसरे शब्दो में की है। यही प्रेम-तत्त्व साधक की प्रेरणा देता है इसी को पाकर वह उन्मत्त हो उठता है। रूमी न इस स्थिति का बड़े सुन्दर ढंग से चित्रण किया है—

'It is the flame of love that fired me,
This is the wine of love that inspired me.
Wouldst thou learn how lovers bleed,
Hearken, hearken to the Read."[1]

अर्थात् प्रेम की ज्वाला ने ही मुझे प्रज्वलित किया है। उसीकी मदिरा ने मुझे उन्मत्त बनाया है। इस नर-कुल घास से यह सीख लो कि प्रेमी किस प्रकार से अपना रक्त बहाता है। यही दिव्य सौन्दर्य साधक को सिद्धि के द्वार पर ले जाता है —

"Love will not let his faithful servant's tire,
Immortal Beauty draws them on and on,
From glorys unto glory, drawing nigher,
At each remove and loving to be drawn."[2]

अर्थात् प्रेम सच्चे प्रेमी को कभी थकने नहीं देता। उसे वह नित्य नवीन शाश्वत सौन्दर्य की अनुभूति कराता रहता है, और प्रत्येक पद पर नित्य नई विभूति प्रदान करता रहता है।

रूमी के सदृश जायसी भी सूफी थे, इसीलिए उन्होने दिव्य सौन्दर्य और प्रेम की मार्मिक अभिव्यक्ति की है। दिव्य सौन्दर्य का सकेत ऊपर

---

१. देखिए 'Rumi' By Nicholson page 43 पर टिप्पणी नं० ३।

२. 'Rumi', by Nicholson. page 30 देखिए।

किया जा चुका है। यहाँ पर उनके सूफी-प्रेम पर दो-चार शब्द कहना अभिप्रेत है। जायसी ने जिस प्रेम का वर्णन किया है वह प्रत्यक्ष लौकिक दिखलाई देते हुए भी अलौकिक है। यह बात उन्होने "परिमल प्रेम न आछे छपा" लिखकर समर्पित की है। यही परिमल-प्रेम 'कठिन दुहेला' कहा गया है।

किन्तु इस प्रेम को जो अपनाता है वह दोनों संसार से पार हो जाता है :—

भलेहि प्रेम है कठिन दुहेला।
दुइ जग तरा प्रेम जेहि खेला॥

यह प्रेम सुरा के सदृश मादक है। इसे पीकर मरने व जीने का भय नही रह जाता —

सुनि धनि प्रेम सुरा के पिये,
जियन मरन डर रहै न हिए।
प्रेम सुरा जेहि के हिय चाहा,
कित बैठे महुआ के छाहा॥

यह आध्यात्मिक प्रेम अनिवर्चनीय भी होता है। इसके महत्त्व को वही जानता है जिसने इसका अनुभव किया है।

प्रेम बार सो कहै जो देखा।
जो न देख का जान बिसेखा॥

सूफी आध्यात्मिक प्रेम की एक और विशेषता होती है वह है उसका बिरह से मुक्त होना। जायसी ने अपने प्रेम में विरह को विशेष महत्व दिया है —

प्रीति बेल सँग बिरह अपारा।
सरग पतार जरै तेहि झारा॥

इस आध्यात्मिक प्रेम की जागृति पूर्व जन्म के पुण्यों के प्रभाव के फलस्वरूप होती हैं। तभी तो जायसी ने लिखा है—

न जनौ कौन पोन लेइ आवा।

पद्मावती रूपी विराट् ब्रह्म के दर्शन पर समुद्र अपने पूर्व जन्म के पुण्यो की सराहना करता हुआ कहता है कि न मालूम किस पुण्य के फल-स्वरूप उसे ब्रह्म का साक्षात्कार प्राप्त हुआ है। इस आध्यात्मिक प्रेम में लौकिक प्रेम की शारीरिक वासना-तृप्ति के स्थान पर केवल दर्शन की कामना ही को महत्त्व दिया जाता है। इस दर्शन की कामना के आगे साधक स्वर्ग की भी उपेक्षा करता है। 'पद्मावत' में रत्नसेन कहता है—

> **नाहौं सर्गक चाहौं राजू ।।**
> **ना मोहि नरक सेत किछु काजू।**
> **चाहौं ओहिकर दरसन पावा।**
> **जेहि मोहि आन प्रेम-पथ लावा।।**

इस प्रकार हम देखते है कि 'पद्मावत' में वर्णित प्रेम और सौन्दर्य दोनो ही पूर्णरूपेण सूफी है। यहाँ पर यह प्रश्न उठ सकता है कि यदि जायसीका प्रेम वर्णन आध्यात्मिक है तो फिर उसमें वासना की दुर्गन्ध जगह-जगह पर क्यो आती है?

दिन दिन मदन सतावै आई—जैसी उक्तियाँ उसमें क्यों पाई जाती है? इस सम्बन्ध मे मै सूफी देवदासी राबिया का स्मरण करना चाहता हूँ। राबिया अपने को अल्लाह की पत्नी समझती थी। वह कहती है—"हे नाथ! मै आपको द्विधा प्रेम करती हूँ। एक तो यह मेरा स्वार्थ है कि मै आपके अतिरिक्त किसी अन्य की कामना नही करती—दूसरे मेरा यह परमार्थ है कि आप मेरे पर्दे को मेरी आँखो से हटा देते है ताकि मै आपका साक्षात्कार करके आपकी सुरति में निमग्न हो जाऊँ। किसी भी दशा म मुझे इसका श्रेय नही मिल सकता। यह तो आपकी कृपा-कोर का प्रसाद है।[1]

---

१ देखिए 'ए लिटरेरी-हिस्ट्री आफ एरेबिया', पृष्ठ २३४।

राबिया की इस प्रेमाभिव्यक्ति में हमें जो एक प्रवेगपूर्ण मादन भाव के दर्शन होते है उसमें प्रत्यक्ष लौकिकता होते हुए भी अलौकिकता और आध्यात्मिकता वर्तमान है। 'पद्मावत' में जायसी ने इसी दाम्पत्य-भाव की अभिव्यक्ति प्रत्यक्ष लौकिक रूप में करते हुए भी उसमें अप्रत्यक्ष आध्यात्मिकता को प्रतिष्ठित कर दिया है। 'पद्मावत' मे लौकिक प्रेम पक्ष में पाए जाने का एक कारण और है। 'पद्मावत' की कहानी एक प्रसिद्ध लोक-कथा है। लोक-कथा की रक्षा और निर्वाह किये जाने के लिए लौकिक मादन भाव का वर्णन परमापेक्षित था। यही कारण है कि जायसी ने प्रत्यक्ष रूप से लौकिक प्रेम का ही वर्णन किया है।

आध्यात्मिक प्रेम मे आध्यात्मिक विरह का बड़ा ही महत्त्व है। यह विरह ही प्रेम को उद्दीप्त किये रहता है। इसीलिए सूफी कवियों ने विरह-तत्त्व को बहुत महत्त्व दिया है। जायसी भी सूफी थे, अतः उनमें भी उसकी मार्मिक अभिव्यंजना मिलती है।

जायसी ने भी अन्य सूफियों की भाँति विरह-तत्त्व को अधिक महत्त्व दिया है। उन्होने तो यहाँ तक लिखा है कि साधक को गुरु से विरह-तत्त्व ही प्राप्त होता है—

गुरु बिरह चिनगी जो मेला।
सो सुलगाइ लेइ जो चेला॥

प्रेम के समान जायसी ने विरह के भी लौकिक औरअलौकिक दोनों पक्षों का उद्घाटन किया है। जहाँ पर विरह व्यक्तिपरक है वहाँ पर तो उसका लौकिक पक्ष ही प्रधान है, किन्तु जहाँ पर उसका आरोप विश्व में कर दिया गया है वहाँ वह पूर्ण रूप से अलौकिक हो गया है—

बिरह की आगि सूर जग काँपा।
रातहिं दिवस जरै ओहि तापा॥
औ सब नखत तराईं जरहीं।
टूटहिं लूक धरति महँ परहीं॥

इस प्रकार स्पष्ट है कि जायसी में सूफियों का विरह-तत्त्व भी अपने सुन्दरतम रूप मे पुलकित है।

जायसी सूफियो के आध्यात्मिक सिद्धान्तों से भी प्रभावित थे। सूफियो की यह दृढ़ धारणा है कि रूह सदैव अपने प्रियतम से एकाकार प्राप्त करने के लिए तड़पती रहती है। रूमी ने इस बात का सकेत करते हुए लिखा है—"ईश्वर ने अपने प्रकाश की वर्षा सभी आत्माओं पर की, किन्तु पवित्र आत्माएँ केवल उसे प्राप्त कर सकीं। उस प्रकाश को प्राप्त करके वे संसार की समस्त वस्तुओं से विमुख होकर ईश्वरोन्मुख होगई हैं। जो समुद्र की धारा है वह समुद्र में ही जाती है। इस प्रकार आत्मा जहाँ से आव है वहीं जाना चाहती है।"

सूफियो के इस आध्यात्मिक सिद्धान्त की छाया जायसी की निम्नलिखित पक्तियो मे स्पष्ट दिखाई पडती है--

धाय जो बाजा कै मन साधा।
मारा चक्र भयऊ दुइ आधा।।

इन पक्तियो मे उन्होने स्पष्ट ध्वनित किया है कि विश्व के समस्त पदार्थ उस परमात्मा तक पहुँचने के लिए प्रयत्नशील है, किन्तु अपनी साधना की अपूर्णता के कारण वे वहाँ पहुँच नही पाते है। भारतीय दृष्टि से भी आत्मा परमात्मा का अंश है और वह सदैव उससे तादात्म्य स्थापित करने के लिए तड़पती रहती है, किंतु माया के कारण वह सरलता से उससे नही मिल पाती है। जब साधक ज्ञान के सहारे माया पर विजय प्राप्त कर लेता ह तभी वह अपने प्रियतम से तादात्म्य-लाभ करता है।

सूफियो की सृष्टि-विकास-सम्बन्धी धारणा का भा प्रभाव जायसी पर लक्षित होता है। सूफियो में बहुत-से वर्ग हैं। प्रत्येक वर्ग सृष्टि,उत्पत्ति और विकास के सम्बन्ध में अपने अलग-अलग मत रखता है। जायसी

पर सुहृदियावर्ग के सूफियो का प्रभाव अधिक पडा था। ये वर्ग सिद्धान्त रूप से प्रतिबिम्बवादी है। इनके मतानुसार संसार एक दर्पण है जिसमें ईश्वर के धर्म प्रतिबिंबित होते रहते हैं। जायसी ने सूफियो के इस प्रतिबिंबवाद की झाँकी मानसरोदक-खड के अतिम अवतरण मे बहुत सुन्दर ंग से सजाई है—

कहा मानसर चाह सो पाई।
पारस रूप यहाँ लगि आई॥
नैन जो देखा कमल भा, निर्मल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हंस भा, दसन जोति नगहीर॥

यहाँ पर पद्मावती का चित्रण विराट् ब्रह्म के रूप मे किया गया है। सरोवर को हम ससार का प्रतिरूप मान सकते है। पद्मावती रूपी ईश्वर के ही विविध अग रूपी धर्म सरोवर रूपी ससार में विविध पदार्थों के रूप मे प्रतिबिंबित दिखलाए गए है। इस आधार पर हम जायसी की जगत्-सबन्धी धारणा सूफियो के शहूदिया-वर्ग के अनुरूप मान सकते है।

सूफी-धर्म भी एक साधना-प्रधान धर्म है। यौगिक साधना के सदृश सूफी-साधना भी रहस्यपूर्ण है। सूफियो को अपना कल्ब (हृदय) शुद्ध करके रूह (आत्मा) को विकसित करना पडता है। कल्ब शुद्ध करने के लिए उन्हे सात मुकामात से होकर गुजरना होता है। वे मुकामात क्रमशः प्रायश्चित्त, अकिंचनता, त्याग, संतोष, ईश्वर-विश्वास, धैर्य तथा निरोध है। इनके अतिरिक्त साधक के लिए ईश्वर-स्मरण और जप आदि भी आवश्यक होते है, इन्हे हालात कहते है। बाशरा सूफी लोग सदाचरण, प्रपत्ति और कुरान शरीफ की आयतो का पालन करना भी आवश्यक समझते है। इस प्रकार साधक अपने शरीर आत्मा और मन को शुद्ध करके क्रमश साधना के मार्ग में अग्रसर होता है। ये मार्ग बहुत ही कठिक और जटिल है इसीलिए उसमे उन्होने चार पड़ाव माने है—शरीयत, तरीकत, हकीकत और मारफ़त है।

धर्म-ग्रन्थों की शरायत के अनुकूल चलना ही शरीयत है। मानसिक एवं हार्दिक साधना-मार्ग में अग्रसर होना तरीकत कहलाता है। प्रेम और ज्ञान के सहारे सत्य का बोध करना हकीकत है। मारफत शुद्ध ज्ञान और समाधि की स्थिति है, जिसमें पहुँचकर साधक ब्रह्ममय हो जाता है। इस स्थिति का वर्णन सूफियों ने बड़े विस्तार से किया है। इस स्थिति के छः पक्ष माने गए है; उनका हम जायसी के प्रसग में उल्लेख कर चुके है।

जायसी मे सूफी साधना की उपर्युक्त सभी बातें मिलती है। उनके रहस्यवाद का वर्णन करते समय उनका विवेचन कर दिया जायगा।

सूफियो ने भावातिरेकता की अवस्था पर भी बहुत जोर दिया है। साधक को इसी भावातिरेकता की अवस्था में ब्रह्मानुभूति होती है जब तक साधक का कल्ब बिलकुल शुद्ध नही हो जाता तब तक ब्रह्मानुभूति चिरस्थायी नही होती। इस अवस्था को रहस्यवादी लोग आशिक अनुभूति की अवस्था मानते है। जायसी मे इसके बहुत-से उदाहरण मिलते है। जब कल्ब बिलकुल शुद्ध हो जाता है तो माया और शैतान किसी का भी प्रभाव नही रह जाता तब साधक को शाश्वत अनुभूति की अवस्था प्राप्त होती है। दार्शनिक भाषा मे इसे जीवन-मुक्ति की अवस्था कहते है। जायसी मे इस अवस्था के चित्र नहीं मिलते है। उसका कारण यह है कि उनका साधक इस अवस्था को प्राप्त करके भी उसमें स्थिर नही रह पाता है। नागमती रूपी सासारिकता के चक्कर में इस अवस्था को प्राप्त करने के बाद भी पड जाता है। जायसी के आध्यात्मिक रहस्यवाद के प्रसंग मे उनकी अन्योक्ति को स्पष्ट करते समय इस बात पर विशेष प्रकाश डाला गया है।

जायसी में हमें सूफी-साधना के चार पड़ावों की भी चर्चा मिलती है। वे एक स्थल पर लिखते हैं—

चार बसेरे सो चढ़े सत सों उतरे पार।

इन अवस्थाओ के अलग-अलग वर्णन जायसी मे बडी रहस्यपूर्ण शैली मे अभिव्यक्त किये गए है। हम जायसी के रहस्यवाद के प्रसंग में इनका संकेत कर चुके है।

सूफी-साहित्य एव साधना मे प्रतीको का बहुत महत्त्व है। उस प्रियतम की अनुभूति वास्तव में गूँगे का गुड है, इसीलिए उसकी सम्यक् अभिव्यक्ति नही की जा सकती। किन्तु यह मानव का स्वभाव है कि वह अनुभूतियो के वर्णन करने के लोभ का भी सवरण नही कर पाता हैं। इसीलिए वह अनिर्वचनीय और अनिवेद्य को निवेद्य और वचनीय बनाने का प्रयत्न करता है। सूफी आचार्य फारिज ने प्रतीको के द्विधा महत्त्व को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि **"उनके प्रयोगों से दो लाभ प्रत्यक्ष होते हैं। एक तो प्रतीकों की ओट लेने के धर्म-बाधा टल जाती है, दूसरे उनके प्रयोगों से उन बातों की अभिव्यंजना भी खूब हो जाती है जिनके निदर्शन में वाणी मूक अथवा समर्थक होती है।"** [१]

सूफी-साधना का प्रधान तत्त्व रति है। रति का मुख्य उद्दीपक मदिरा हैं। इसीलिए सूफी-साधना में प्रेम और सुरा की बडी चर्चा मिलती है। रति का दाता ही प्राय: सुरा का दाता या साकी होता है। ये माशूक के सौदर्य को परमात्मा का सौंदर्य समझते है। अल्लाह को ये लोग पुरुष रूप मानते हैं और रमणी को दिव्य प्रेम का प्रतीक कहते है। अराबी नामक सूफी नें लिखा है कि परमात्मा के दर्शन सदैव स्त्री रूप मे ही किये जाने चाहिएँ।[२] जायसी पर सूफियों की स्त्री सुरति और सुरा का भी पूरा प्रभाव दिखाई पड़ता है। उन्होने अराबी के

१ देखिए 'तसव्वुफ अथवा सूफी मत' द्वारा चद्रबली पाडे, पृष्ठ १८।

२ देखिए 'स्टडीज इन इस्लामिक मिस्टसिज्म' द्वारा निकलसन, पृष्ठ १६१।

सदृश ही पद्मावती नामक रमणी में परमात्मा के दर्शन किये है। 'पद्मावत' में प मावती का वर्णन सर्वत्र विराट् ब्रह्म के रूप मे ही किया गया है। जायसी अन्य सूफियो के सदृश सुरा के प्रभाव से भी परिचित थे उन्होने प्रेम को ही सुरा कहा है—

सुनधनि प्रेम सुरा के पिए।
जियन मरन डर रहै न हिए॥

दाम्पत्य-प्रतीको के अतिरिक्त सूफियो में विपरीतात्मक प्रतीकों का भी प्रचार था। ये विपरीतात्मक प्रतीक कबीर की उलटवासियो से मिलते-जुलते है। कबीर पर इनका प्रभाव माना जा सकता है। जिली नामक सूफी की एक विपरीतात्मक उक्ति इस प्रकार है कि **"मेरी प्रार्थना पर मेरी माताओं ने मुझसे प्रणय कर लिया।"** एक दूसरे स्थल पर उसने पुनः लिखा है कि मेरी माता ने मेरे पिता को जन्म दिया [१] कबीर ने भी इसी ढग की बहुत-सी उक्तियाँ लिखी है। उनकी एक उक्ति है—**"बिटिया ने बाप जाओ।"** ये उक्ति अराबी की उपर्युक्त उक्तियो के ठीक अनुरूप दिखलाई पडती है। इस प्रकार की उक्तियो के लिए मुक्तक काव्य मे अधिक स्थान रहता है इसीलिए जायसी में इस कोटि की उक्तियाँ नही पाई जाती है।

सूफी अधिकतर अद्वैतवादी होते है किंतु ये अद्वैतवाद एकेश्वरवाद की सीमा को छूता हुआ दिखाई पड़ता है। चन्द्रबली पाडे ने सूफियों के अध्यात्म पर विचार करते हुए लिखा है कि सूफियों के सामने सबसे बड़ी अड़चन यही रही है कि उनको अपने अध्यात्म का आरम्भ अल्लाह से करना पड़ता है। यही कारण है कि उसमे अद्वैतवाद का प्रौढ़

---

१. देखिए 'स्टडीज इन इस्लामिक मिस्टेसिज्म' द्वारा निकल्सन, पृष्ठ ११२-११३।

प्रतिपादन खुलकर नही हो पाता है।[1] जायसी की आध्यात्मिकता भी अन्य सूफियो के अनुरूप ही थी। उसमे एक ओर तो एकेश्वरवाद की झलक दिखाई पडती है और दूसरी ओर भारतीय अद्वैतता की। 'पद्मावत' मे "बरनो आदि एक करतारू"-जैसी एकेश्वरवादी पक्तियाँ मिलती है और दूसरी ओर उनमे अद्वैतवादी ढग की पंक्तियाँ भी निम्नलिखित रुप मे पाई जाती है—

आपुहि गुरु सो आपुहि चेला।
आपुहि सब औ आप अकेला ॥
आपुहि मीच जीवन पुनि, आपुहि तन मन सोय।
आपुहि आप करै जो चाहे, कहाँ सो दूसर कोय ॥

जायसी के अतिरिक्त कबीर भी सूफियो की कई बातो से प्रभावित थे। जायसी के सदृश उनमे भी कही-कही एकेश्वरीय अद्वैतवाद की झलक दिखाई पड़ती है। दाम्पत्य-भाव की सुरति और सुरा का प्रभाव भी कबीर के रहस्यवाद मे ढूँढ़ा जा सकता है। उनके रहस्यवाद का विवेचन करते समय इन बातो का निर्देश किया जा चुका है। अतएव हम उन्हे दोहराना नही चाहते है।

स प्रकार हम देखते है कि हिन्दी के रहस्यवादी जायसी और कबीर एक ओर ता भारतीय रहस्यवाद की विविध धाराओं की बहुत-सी बातो से प्रभावित है और दूसरी ओर उन पर सूफी रहस्यवाद की सुरति, सुरा आदि विविध तत्त्वो की छाया दिखाई पड़ती है। कबीर-जायसी आदि हिन्दी-कवियो के रहस्यवाद का अध्ययन उपर्युक्त रहस्य-वादी धाराओ के प्रकाश में ही करना चाहिए।

---

१. देखिए—'तसव्वुफ और सूफी मत,' लेखक चन्द्रबली पाडे पृष्ठ १३५।

कबीर का रहस्यवाद

: १ :

रहस्यवादी कबीर और उनके रहस्यवाद के प्रकार

आध्यमत्मिक अनुभूतियों की रसमयी अभिव्यक्ति का नाम रहस्यवाद है। इस कोटि की अभिव्यक्ति का चरम सौदर्य हमे महात्मा कबीर के काव्य म मिलता है। वे हमारी भाषा के एक महान् रहस्यवादी कवि है। अंडरहिल ने उन्हे "The most interesting personalities of the Histoty of Indian mysticism" अर्थात् भारतीय रहस्यवाद के इतिहास में बड़ा ही रोचक व्यक्तित्व पूर्ण रहस्यवादी कहा है। वास्तव में बात सत्य है। कबीर में हमें रहस्यवाद के समस्त प्रकार और प्रक्रियाएँ मिलती है। उनमें अभिव्यक्ति के इतने स्वरूप मिलते है, इतनी प्रणालियाँ पाई जाती है कि उनका अध्ययन करना कठिन हो जाता है। फिर वे रहस्यवादी होकर भक्त, सुधारक योगी आदि न जाने क्या-क्या है। इन्ही सबसे उनका रहस्यवादी व्यक्तित्व अत्यन्त महान्, पूर्ण और रोचक लगता है।

भिन्न-भिन्न विद्वानो ने रहस्यवाद के स्वरूप को अपने-अपने ढंग पर से समझाने की चेष्टा की है। किन्तु उसका स्वरूप आज भी अस्पष्ट है। इसका प्रमुख कारण यही है कि उसका वर्ण्य विषय आध्यात्मिक होता है। अध्यात्म सदैव से ही जटिल और अस्पष्ट रहा है। दर्शन का विवेच्य विषय भी अध्यात्म होता है। [illegible] लिए वह भी अत्यन्त जटिल और दुरूह समझा जाता है। किन्तु दर्शन और रहस्यवाद मे अंतर है। दर्शन की नीव बुद्धि पर खड़ी है। किंतु रहस्यवाद में

बुद्धि के साथ भाव का मधुर मिश्रण रहता है। भाव का अर्थ प्रेम भी होता है। कालिदास ने अपने 'कुमार-सम्भव' मे इसी अर्थ मे इसका प्रयोग किया है। इस प्रकार रहस्यवाद को हम विचार और प्रेम के मिश्रण से बना हुआ मधुर रसायन कह सकते है। Joyous mysticism नामक ग्रन्थ मे यह बात दूसरे ढग से कही गई है:—"Love and thought, these are the keys of the mystic realm." अर्थात् विचार और प्रेम रहस्यवादी ससार की चाबियाँ है। महात्मा कबीर के जीवन का लक्ष्य एक ओर तो अध्यात्म-निरूपण करना था तथा दूसरी ओर राम-रस या प्रेम-रस का पान करना भी था। यह बात उन्ही के निम्नलिखित पद से स्पष्ट है—

"छाकि परयो आतम मतिवारा।
पीवत राम रस करत विचारा॥"

"बहुत मोलि मंहगै गुड़ पावा, लै कसाब रस राम चुवावा॥
तटन पाटन मै कीन्ह पसारा माँगि-माँगि रस पीवै विचारा।
कहै कबीर फाबी पीवत सब राम रस लगी खुमारी॥"

अर्थात् अध्यात्म-चिन्तन करते-करते उन्हे राम-रस की प्राप्ति हुई। उस राम-रस का पान करके उनकी आत्मा आनन्द से तृप्त हो उठी। बड़ी भारी विचारात्मक साधना के बाद सार रूप मे राम-रस का मधुमय आसव मिला। उस आसव मे इतनी दिव्य मधुरिमा है कि कबीर का साधक 'माँगि-माँगि' कर अर्थात् बार-बार याचना करके उस रस का पान करता है। किन्तु फिर भी उसकी तृप्ति नही हो पाती। उस विचार-मूलक राम-रस का पान करते-करते साधक को खुमारी लग जाती है। वह अनिर्वचनीय रस रूप ब्रह्म की अनुभूति करने लगता है। कबीर का दृढ़ विश्वास था कि सच्ची रसानुभूति गूढ अध्यात्म-चिन्तन के फलस्वरूप ही होती है।

"आप ही आप विचारिए तब केता होय अनंद रे"

विचारमूलक इस राम-रस की प्राप्ति हो जाने पर संसार के सभी अन्य रस विस्मृत हो जाते है—

"राम रस पाइया रे ताथे बिसरि गए रस और"

इसी राम-रस को पीकर शिव-सनकादि भी आनन्द-निमग्न रहते थे—

"इहि रसि सिव सनकादिक माते पीवत अजहुँ न अघाय।"

कबीर के रहस्यवाद की महत्ता का रहस्य उनके अध्यात्म-चिन्तन-जनित राम रस में अन्तर्निहित है। राम-रस को हम अधिक स्पष्ट शब्दों में चिन्तन-जनित अनन्य प्रेममूलक आनन्द कह सकते है। महात्मा कबीर के व्यक्तित्व का यह सबसे महान् वैशिष्टय था कि शुष्क अध्यात्म चिन्तन को मथकर वे 'राम-रस' रूपी मधुमय दिव्य नवनीत निकाल लेते थे। उनके व्यक्तित्व के इस वैशिष्टय के मूल मे उनकी प्रवृत्ति की विचारात्मक भावुकता थी। वे विचारक के साथ-साथ भावुक भी थे। उनकी वाणी के एक-एक शब्द से विचारात्मकता और भावुकता का मधुमय मिश्रण टपकता है।

अभी हम पीछे संकेत कर चुके है कि कबीर मे उच्च कोटि की विचारात्मकता के साथ-साथ सरस भावुकता की मधुमयी सुसंगति पाई जाती है। यहाँ पर उनकी इन दोनों विशेषताओं पर संक्षेप में विचार कर लेना अनुचित न होगा। कबीर की यह विचारात्मकता दार्शनिकों की विचारात्मकता से भिन्न थी। दार्शनिकों की विचारात्मकता शुष्क, तर्क-मूलक बुद्धि-प्रधान एवं गूढ चिन्तना-जनित होती है। कबीर की विचारात्मकता राम-रस से सराबोर होने के कारण कही भी शुष्क, नीरस और कोरी बुद्धि-प्रधान नहीं प्रतीत होती। वह तर्कना-प्रधान भी नहीं थी। तर्क-वितर्क करना वे स्थूल बुद्धि का कार्य मानते थे। उन्होंने एक स्थल पर लिखा है जो लोग अद्वैत तत्त्व की द्वैतता तर्क के सहारे सिद्ध करना

चाहते है उनकी बुद्धि स्थूल होती है ।

"कहै कबीर तरक दुइ साधै तिनकी मति है मोटी ।"

कबीर की विचारात्मकता के विकास मे उनकी अलौकिक प्रतिभा भी बहुत अधिक सहायक हुई थी । प्रतिभा का कार्य नये-नये विचारो और भावो को जन्म देना होता है । वह उच्चकोटि की काव्य-विधात्री भी मानी गई है । सस्कृत आचार्यो ने इसको बहुत अधिक महत्त्व दिया है । उनकी विचारात्मकता प्रतिभामूलक होने के कारण ही अनेकानेक मौलिक आध्यात्मिक चित्रो को प्रस्तुत करने मे समर्थ हुई है। ये आध्यात्मिक चित्र उनकी सरस भावुकता से अनुप्राणित होकर और भी अधिक मधुर, सजीव एव आकर्षक बन गए है। सच तो यह है कि भावुकता ने ही उनके आत्म विचार को सरस काव्य के रूप मे अभिव्यक्त किया है। वे उच्चकोटि के विचारक एव अध्यात्म-चिंतक होने के साथ-ही-साथ परम भावुक भी थे यह हम अभी कह चुके है । सच्चे भावुक की यही पहचान है कि वह शुष्क को मधुर और निर्जीव को सजीव, बना देता है । इस सजीवता, सरसता आदि की प्रतिष्ठा वह कल्पना के द्वारा लाए हुए मधुर चित्रो, स्वाभाविक साहित्यिकता एवं सात्विक सहानुभूति के सहारे करता है । इसके लिए उसे जड मे भी मानव रूप और हृदय का आरोप करना पडता है। शुष्क आध्यात्मिक तथ्यो को चित्र रूप मे प्रस्तुत करने के लिए उसे मधुर परिस्थितियो एव पदार्थमूलक रूपको तथा ध्वनि-प्रधान अन्योक्तियो की योजना करनी पड़ती है । उदाहरण के लिए हम निम्नलिखित अवतरण प्रस्तुत करते है । इन अवतरणो मे आत्मा और परमात्मा के मिलन का आध्यात्मिक तथ्य वर्णित है । इस तथ्य को कवि ने दाम्पत्य-प्रतीक एव विवाह आदि के रूपकों के सहारे बड़े ही सुन्दर एवं भावपूर्ण ढग से प्रतिष्ठित किया है—

दुलहिन गावहु मंगलचार ।
हम घरि आए हो राजा राम भरतार ।। टेक ।।

तन रति करि मैं मन रति करिहौं पञ्चतत्त बराती ॥
रामदेव मोरे पाहुँन आए मैं जोबन मदमाती ॥"[1] इत्यादि
और देखिए—
"बहुत दिनन थे प्रीतम पाए ।
भाग बड़े घर बैठे आए ॥ टेक ॥
मंगलचार माहि मन राखौ राम रसाइन रसना चाखौ ।
मन्दिर माहि भया उजियारा ले सूती अपना पीव पियारा ॥
मैं रनि रासी जे निधि पाई हमहि कहा यह तुम्हहि बड़ाई ।
कहै कबीर मैं किछु नहि कीन्हा सखी सुहाग राम मोहि दीन्हा ॥"

उपर्युक्त ढंग पर आध्यात्मिक विषय को लेकर काव्यत्व और भावुकता के सहारे अभिव्यक्त की हुई उक्तियाँ ही रहस्यवाद की सच्ची उक्तियाँ कही जायँगी । कबीर की रचनाएँ इस प्रकार की मधुर एवं भावपूर्ण आध्यात्मिक अनुभूतियो और चित्रो का बृहत् कोष है; इस प्रकार की समस्त उक्तियाँ उनके अनुभूतिमूलक रहस्यवाद के अन्तर्गत आती है ।

रहस्यवाद का विस्तार बहुत व्यापक है । उसके अन्तर्गत किसी भी प्रकार की साधनामूलक रहस्य-वर्णनाएँ भी आ सकती है । यही कारण है कि कुछ रहस्यपूर्ण यौगिक वर्णनो को भी रहस्यवाद के अन्तर्गत माना जाता है । कबीर सच्चे योगी थे, अतः उनमें यौगिक रहस्यवाद भी पाया जाता है । कभी-कभी रहस्यवाद की सर्जना कोरे पारिभाषिक शब्दो के सहारे या विविध प्रकार की बुद्धिमूलक चमत्कारपूर्ण अभिव्यक्ति-प्रणालियों के सहारे भी हो जाया करती है । कबीर के काव्य में उपर्युक्त प्रकार के रहस्यवाद भी पाए जाते है । इस प्रकार स्थूल रूप से उनमें हमें रहस्यवाद की तीन स्पष्ट धाराएँ मिलती है—

(१) अनुभूतिमूलक रहस्यवाद
(२) साधनात्मक या यौगिक रहस्यवाद
(३) अभिव्यक्तिमूलक रहस्यवाद

---
[1] 'कबीर ग्रंथावली', पृ० ८७ ।

: २ :

कबीर का अनुभूतिमूलक रहस्यवाद

रहस्यवाद में अनुभूति का महत्व—पहले हम अनुभूतिमूलक रहस्यवाद पर विचार करेंगे। जिस प्रकार बुद्धिमूलक तर्क दर्शन की आधार-भूमि है उसी प्रकार हृदयमूलक अनुभूति इस कोटि के रहस्यवाद की पृष्ठभूमि है। जब भारतीय दार्शनिकों ने अध्यात्म-चिंतन में तर्क की असमर्थता समझ ली तो फिर उन्हें *'नैषा मतिः तर्केण आपनीया' 'तर्काप्रतिष्ठानात्'* जैसी उक्तियाँ लिखनी पड़ी। फलस्वरूप दर्शन के क्षेत्र मे अनुभव की मान्यता प्रतिष्ठित हो चली। केवल भारतीय दार्शनिको ने ही अनुभव की महत्ता नही स्वीकार की वरन् पाश्चात्य दार्शनिकों में भी इसकी प्रतिष्ठा हुई। जे० एस० मेकेजी साहब ने आउट लाइन्स आफ मेटाफिजिक्स में अध्यात्म विद्या के लक्षण में अनुभव शब्द का प्रयोग किया है। उनके मतानुसार "अध्यात्म विद्या उस विद्या को कहते है जिसमें अनुभव का सार रूप से विचार होता है।" राधाकृष्णन् की अध्यात्म-सम्बन्धी परिभाषा भी ऐसी ही हैं। उन्होने लिखा है "अध्यात्म विद्या उस विद्या को कहते हैं जिसमें मुख्यतः अनुभूतिगत तत्त्व का विचार किया जाय।" रहस्यवाद मे अनुभव की मान्यता दर्शन से भी अधिक है। किन्तु दोनों में अन्तर है। अध्यात्म विद्या में अनुभूतिगत तत्त्व का विचार होता है जब कि रहस्यवाद में तत्त्व की अनुभूतिमूलक अभिव्यक्ति होती है। अनुभूति का सम्बन्ध प्रधानतः हृदय से होता है। रहस्यवाद मे रहस्यमय की हृदयमूलक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति की जाती है। इस अभिव्यक्ति में

हृदय की भाव-प्रवणता, सुकोमलता और सरसता भरी रहती है। यही कारण है कि अनुभूतिमूलक रहस्यवाद अत्यधिक भाव-प्रवण, सरस और सुकोमल होता है। हम पहले बता चुके है कि कबीर में विचारात्मकता और भावुकता दोनो का सुन्दर समन्वय पाया जाता है। इसीलिए उनमें अध्यात्म-चिन्तन के साथ-साथ सरस रहस्यानुभूति भी पाई जाती थी।

आस्तिकता—सच्चे रहस्यवादी साधक की सबसे प्रधान विशेषता उसकी आस्तिकता है। उसमें अपने आराध्य के अस्तित्व के प्रति दृढ निष्ठा होनी चाहिए। नास्तिक कभी रहस्यवादी हो ही नही सकता। सम्भवतः इसीलिए पाश्चात्य विद्वान् रूडोल्फ ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ Mysticism in East and West मे आस्तिकता को रहस्य-वाद की आधार-भूमि कहा है। जहाँ तक कबीर की आस्तिकता का सम्बन्ध है उसके विषय में दो मत नही हो सकते। वे कट्टर आस्तिक थे। वे स्पष्ट कहते है—

"मेरे संगी दुई जना एक वैष्णव एक राम।
एक दाता है मुकति का एक सुमिरावै राम।"

जिज्ञासा—वे मुक्ति देने वाले अपने आराध्य राम से मिलने के हेतु पागल थे। उनके सम्बन्ध मे सब-कुछ जानने के लिए उनकी आत्मा व्याकुल थी उनके दर्शनो के लिए वे लालायित थे। देखिए निम्न लिखित पक्तियो मे उनकी प्रियतम जिज्ञासा की कितनी औत्सुक्यपूर्ण व्यजना मिलती है—

"हौ बलियाँ कब देखौंगी तोहि।
अहनिस आतुर दरसन कारनि, ऐसी व्यापै मोहि॥
नैन हमारे तुम्हकूँ चाहै, रतीं न मानैं हारि।
विरह अगिन तन अधिक जरावै, ऐसा लेहु विचारि॥
सुनहु हमारी दादि गुसाँई, अब जिन करहु बधीर।
तुम्ह धीरज मै आतुर स्वामी, काँचे भाँडै नीर॥

बहुत दिनन के बिछुरे माधै, माधौ मन नहीं बाँधै धीर।
देह छताँ तुम्ह मिलहु कृपा करि, आरतिवंत कबीर॥"

रहस्यवादी साधक का पात्रत्व—रहस्यवाद भी एक प्रकार की आध्यात्मिक साधना है। हमारे यहाँ आध्यात्मिक साधक के पात्रत्व पर विशेष विचार किया गया है। कठोपनिषद् मे लिखा है—

"नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो ना समाहितः।
नाशांत मानसो वापि प्रज्ञानेनेतमाप्नुयात॥

अर्थात् जो पाप-कर्मों से निवृत्त नही हुआ है जिसकी इन्द्रियाँ शान्त नही है और जिसका चित्त असमाहित या अशात है, वह इसे आत्मज्ञान द्वारा प्राप्त नही कर सकता है।

कठोपनिषद् की यह उक्ति रहस्यवादी साधक पर भी पूर्ण रूप से लागू होती है। वास्तव मे रहस्यवाद की साधना तब तक सफल नही होती जब तक साधक पाप-कर्मों से निवृत्त नही होता, उसका मन अशात रहता है तथा उसकी इन्द्रियाँ उसके अधीन नही होती। महात्मा कबीर सच्चे अध्यात्म साधक थे। वे पाप कर्मों से निवृत्त हो चुके थे, उनकी इन्द्रियाँ उनके अधीन थी, उनका मन शान्त था, वे वास्तव मे जीवन्मुक्त की दशा को प्राप्त हो चुके थे।

"मै मंता अविगत रता अकलप आसा जोति।
राम अमलि माता रहैं जीवत मुकुति अतीत॥"

उपास्य स्वरूप—अब थोडा-सा रहस्यवादी के उपास्य स्वरूप पर विचार कर लिया जाय। रहस्यवादी का उपास्य भक्त के उपास्य से भिन्न होता है। भक्त का उपास्य सगुण और साकार होता है। उसकी प्रतिष्ठा लोक के बीच रहती है। तुलसी ने उसका संकेत इस प्रकार किया है —

"अंतर्जामिह ते बढ़ बाहिर जामी।
राम जो नाम लिए ते॥

पैज पड़े प्रल्हादहु के।
प्रगटे प्रभु पाहन ते न हिये ते॥"

इससे स्पष्ट है कि भक्त का उपास्य स्वरूप ठीक वही होता है जो समाज में मान्य होता है। समाज के उपास्य से भक्त का उपास्य भिन्न नही होता। किन्तु रहस्यवादी का प्रियतम सगुण और निर्गुण दोनों ही होता है। निर्गुण तो इस अर्थ में कि - लोक मे वह उस रूप मे प्रतिष्ठित नही होता जिस रूप मे रहस्यवादी उसे मानता है। तथा सगुण इस अर्थ में कि वह रहस्यवादी के हृदय मे मूर्तिमन्त रहता है। रहस्यवादी उपास्य के स्वरूप की विशेषताओ पर अन्डरहिल ने एक वाक्य में ही बहुत अच्छा प्रकाश डाल दिया है—

"The absolute of the mystics is lovable attainable alive and personal" अर्थात् रहस्यवादियो का निर्गुण उपास्य प्रेम करने योग्य, प्राप्त करने योग्य सजीव और वैयक्तिक होता है। इस परिभाषा में रहस्यवादी उपास्य की निम्न लिखित विशेषताएँ निर्दिष्ट है—

(१) वह निर्गुण होते हुए भी।
(२) प्रेम करने योग्य।
(३) प्राप्त करने योग्य।
(४) सजीव एव।
(५) वैयिक्तक होता है।

रहस्यवादी कबीर के उपास्य मे यह सभी विशेषताएँ पाई जाती है। इनके अतिरिक्त उनकी अपनी एक अलग विशेषता है। कबीर भारतीय मर्यादावादी भक्त संत थे। उनकी भक्ति-भावना का प्रभाव उनके रहस्यवादी ब्रह्म पर भी पडा है। यही कारण है कि वह सूफी रहस्यवादियो के उपास्य की भाँति प्रियतम न होकर पति है। अत वह अधिक मर्यादामय और पूज्य बन गया है। कबीर वेदान्ती दार्शनिक भी

थे, इसीलिए उन्होंने ब्रह्म का ही निरूपण निर्गुण निराकार निरजन तथा तत्त्व रूप में किया है। किन्तु ये वर्णन कोरे दार्शनिको के वर्णनों की भाँति शुष्क नीरस नही है। उनके रहस्यवादी ने इनमे प्राण-प्रतिष्ठा कर दी है। यही कारण है उन्होने जहाँ अपने उपास्य को *"पुहुप वास से पातरा ऐसा तत्त्व अनूप"* कहा है वही उसे *"कबीर का स्वामी गरीब निवाज"* *"हरि मेरा पीउ में हरि की बहुरिया"* और *"हम घर आए हो राजाराम भरतार"*, *"सखी सुहाग राम मोहि दीन्हा"* आदि लिखकर पूर्ण सजीव वैयक्तिक, प्राप्त करने योग्य, प्रेम करने योग्य, पूजा करने योग्य आदि भी ध्वनित कर दिया है। रहस्यवादी कबीर की ये अपनी विशेषता थी। उनके रहस्यवादी उपास्य स्वरूप पर कहीं-कही योग का प्रभाव भी पड़ गया है। जिसके फलस्वरूप उन्होने अपने प्रियतम को "सुनि मंडलवासी" पुरुष भी कहा है। किन्तु उनके रहस्यवाद में इस प्रकार की उक्तियाँ बहुत नही हैं।

प्रेम और सौन्दर्य—पहले हमने रहस्यवादी उपास्य के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि उसे प्रेम करने योग्य होना चाहिए। मनुष्य का स्वभाव है कि वह प्रेम उसीसे करता है, या तो जिसके रूप को देखकर वह मुग्ध होता है या जिससे उसका कुछ स्वार्थ सिद्ध होता है। रहस्यवादी सच्चा संत और साधक होता है। वह लोक के स्वार्थादि तुच्छ बन्धनों से ऊपर उठकर अपनी मधुमयी साधना मे ही लीन रहता है। वह सौन्दर्य-प्रिय भी होता है। उसका भावप्रवण और कोमल हृदय अपने प्रियतम के सौदर्य पर रीझकर उसके अनन्य प्रेम में डूब जाता है। इस प्रकार सौन्दर्य और प्रेम दोनो की हौ रहस्यवाद में बड़ी प्रतिष्ठा है।

कुंछ सूफियो ने तो इन तत्त्वों को ही ईश्वर का रूप कल्पित कर लिया है। इब्नेसिना सौन्दर्यवादी थे। वे अपने उपास्य को सौन्द -रूप मानते थे। मंसूर हल्लाज सौन्दर्य के उपासक होते हुए भी प्रधानत: प्रेमवादी थे। वे

अपने प्रियतम को प्रेम रूप मानते थे। महात्मा कबीर यद्यपि सूफियों से प्रभावित हुए थे, किन्तु वे मूलतः भारतीय भक्त थे। यही कारण है कि उनमें सौन्दर्यवाद और प्रेमवाद का वह मधुरतम रूप नही मिलता जिससे हिन्दी के सूफी कवि जायसी का काव्य रसमय है। प्रेम के मादक वर्णन तो कबीर मे मिल भी जाते है, किन्तु सौन्दर्य-वर्णन में तो उन्होंने पूरी कृपणता दिखाई है। उनके समस्त काव्य में शायद ही कही प्रियतम के सौन्दर्य का कोई हृदयाकर्षक एव रमणीय चित्र चित्रित किया गया हो। उन्होने अपने प्रियतम के रूप की कल्पना साक्षात् प्रेम रूप में की है। साहित्य मे प्रेम का रंग लाल माना जाता है। कबीर सर्वत्र अपने प्रियतम की लालिमा ही देखते है। वे उसमें इतने तन्मय हो जाते है कि स्वय भी लाल हो जाते है—

"लाली मेरे लाल की जित देखौं तित लाल।
लाली देखन मैं गई मैं भी होगइ लाल॥"

कुछ स्थलो पर तो उन्होने प्रियतम के रूप की कल्पना ज्योति के रूप मे भी की है। ऐसे वर्णनों पर सम्भवतः यौगिक ज्यौतिवाद का प्रभाव पड़ा है—

"कबीर तेज अनंत का मानो ऊगी सूरज सेणि।
पति संग जागी सुन्दरी कौतिक दीठा तेणि॥"

महात्मा कबीर सौन्दर्य की अपेक्षा प्रेम के अधिक उपासक थे उनका प्रेमभाव सूफियो और भक्तों दोनो के प्रेम तत्त्वों का मधुमय मिश्रित रसायन है। उन्होने उसे राम रसायन की सज्ञा दी है—

"राम रसायन प्रेम रस पीवत नहीं अघाय।"

कबीर का यह रसायन ससार के अन्य सभी रसायनो से अधिक श्रेयस्कर है। यदि इसका तिल-भर भी साधक को मिल जाय, तो वह कञ्चन रूप हो सकता है।

"सभी रसायण मैं पिया हरि सा और न कोई।
तिल एक घट में संचरे तो सबतन कंचन होई॥"

यह रसायन वही त्यागी एवं तपस्वी पी सकता है जो अपना सिर सौंपने को प्रस्तुत हो।

(i) *राम रसायन प्रेम रस पीबत अधिक रसाल।*
कबीर पीवरण दुर्लभ है माँगै सीस कलाल॥

(ii) *कबीर भाटी कलाल की बहुतक बैठे आय।*
सिर सौंपै सोई पिये नहीं तो पिया नहीं जाय॥

इस राम रसायन को पीकर साधक मदमस्त हो जाता है—

हरि रस पीया जाणिए कबहु न जाय खुमार।
मैं मंता घूमत रहै नाही तन की सार॥

इस राम रस का विचार पूर्वक पान करके साधक अनन्त तृप्ति का अनुभव करने लगता है—

छाकि परयो आतम मातवारा।
पीवत राम रस करत विचारा॥ टेक॥
बहुत मोलि मंहगै गुड़ पावा ले कसाब रस राम चुवावा॥

इस राम रस का पान करके साधक ससार के अन्य सभी रसो को भूल जाता है।

राम रस पाइया ताथै विसरि गए रस और॥ टेक॥ इत्यादि

जैसा कि ऊपर संकेत कर चुके है कबीर की प्रेम-साधना सूफियो से ही नही भक्तो से भी प्रभावित थी। इसीलिए मदमस्त बनाने वाले 'राम रसायन' के मधुर वर्णनो के साथ वे "*प्रेम भगति हिडोलना*" की भी चर्चा करते है। यह 'प्रेमभगति हिडोलना' सब सन्तो का विश्राम-स्थल है।

हिडोलना तह झूलै आतम राम।
प्रेम भगति हिडोलना झूले सव संतनि को विश्राम॥

गुरु का कार्य—ऊपर जिस 'राम रसायन' और प्रेम-भक्ति की चर्चा

हमने की है। उसकी प्राप्ति कबीर को अपने गुरु से हुई थी —

गुरु ने प्रेम का अंक पढाय दिया रे।

यह प्रेम केवल आसक्ति रूप ही न था। वह ज्ञान का ज्योति से ज्योतिर्मय भी था। इसीलिए कबीर ने उसकी उपमा दीपक से दी है।

"पीछे लागा जाय था लोक वेद के हाथ।
आगे थे सद्गुरु मिला दीपक दीया हाथ॥"

इस प्रेम दीपक के लिए कबीर गुरु के आजन्म ऋणी रहे थे। इसका प्रतिदान संसार मे उन्हें दिखाई ही नही पड़ा।

"राम नाम के पटन तरे देवे को कछु नाहिं।
क्या लै गुरु संतोषिए हौंस रही मन माहि॥"

इस राम के प्रेम ने कबीर को मनुष्य से देवता बना दिया है इसीलिए कबीर अपने गुरु की बलिहारी है—

"बलिहारी गुरु आपणौ दयौं हाँड़ी को बार।
जिनि मानस ते देवता करत न लागी बार॥"

गुरु ही साधक को इस शरीर के परिष्करण की ओर उन्मुख करता है। इस बात को कबीर के नाम से प्रचलित इस पद मे बडी ही सुन्दर अभिव्यक्ति पाई जाती है। यह पद रूपात्मक प्रतीक शैली का बड़ा सुन्दर उदाहरण है; इसमे कबीर ने धोबी के प्रतीक से गुरु की अभिव्यक्ति की है। चुनरी शरीर का प्रतीक मानी जा सकती है, रगरेज को हम ब्रह्म का प्रतीक कह सकते है—

"नैहर मे दाग लगाई आई चुनरी।
रँगरेजवा कै मरम न जानै नहि मिलै धोबिया कवर करै उजरी॥
तन कै कूँड़ी ज्ञान कै सउँटन साबुन महँग बिकाय या नगरी।
पहिरि ओढ़ि कै चलीं ससुरिया गाँवौ के लो— कहै बड़ी फुहरी॥
कहत कबीर सुनो भाई साधो बिन सतगुरु कबहू नहि सुधरी॥"

गुरु-प्रदत्त यह प्रेम-तत्त्व ज्यों-ज्यों विकसित होता जाता है त्यो-त्यों

पर्याप्त नही होते। उसके लिए कुछ पूर्व जन्म के कर्मो की तथा कुछ ईश्वरेच्छा की अपेक्षा भी होती है।

"कुछ करनी कुछ करम गति कुछ पूरबला लेख।
देखो भाग कबीर का दोसत किया अलेख॥"

इस साधना की प्रक्रिया मुख्यतः अन्तर्मुखी होती है। टालर नामक पाश्चात्य रहस्यवादी ने अन्तर्मुखी साधना की प्रक्रिया इस प्रकार बतलाई है—

"When through all manner of exercises the outer man has been converted to the inward man then God, head nackedly, descends in the depths of the pure soul, so that the spirit becomes one with him." [1]

अर्थात् जब साधक विविध साधनाओं के फल स्वरूप बाह्य पुरुष का आन्तरिक पुरुष से तादात्म्य स्थापित कर लेता है, तभी ईश्वरत्व की शुद्ध आत्मा में अवतारणा होती है। इस प्रकार आत्मा और परमात्मा का ऐक्य स्थापित हो जाता है।

अंतर्मुखी प्रक्रिया—इस अन्तर्मुखो साधना का उल्लेख कठोपनिषद् में बडे सुन्दर ढग से किया गया है :—

"पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वंभू,
तस्मात् पराङ्न पश्यतिनातरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष.
दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ।"

अर्थात् स्वय परमात्मा ने इन्द्रियों को बहिर्मुखी करके हिंसित कर दिया है। इसीसे जीव बाह्य विषयों को देखता है, अन्तरात्मा को नही। जिसने अमरत्व की इच्छा करते हुए अपनी इन्द्रियों को रोक

१ 'Mysticism in Maharastra Preface, page 6.'

लिया है ऐसा कोई धीर पुरुष ही प्रत्यगात्मा को देख पाता है।

कबीर की साधना पूर्ण अन्तर्मुखी थी; उनकी 'उलटी चाल' और 'शब्द सुरति योग' अन्तर्मुखी साधना से ही सम्बन्धित है। उनका दृढ़ विश्वास था कि सहज समाधि की अवस्था वृत्तियो को अन्तर्मुखी करने पर ही प्राप्त होती है। यह वृत्तियाँ जब तक बहिर्मुखी रहती है तब तक शरीर कोटि-कोटि उपाधियो से ग्रस्त रहता है—

"तन महि होती कोटि उपाधि।
उलटि भई सुख सहज समाधि॥"

जीवन-मुक्ति की अवस्था भी मन को अन्तर्मुख करने से ही प्राप्त होती है—

"अब मन उलटि सनातन हुआ तब जान्या जीवतमूवा"

कबीर ऐसे ही साधक को सच्चा साधक मानते थे उसीको वे अपना गुरु बना सकते थे—

"उलटी चाल मिले पर ब्रह्म सो सद्गुरु हमारा।"

महात्मा कबीर का शब्द सुरति योग बहुत प्रसिद्ध है। इसे हम प्राचीन लय योग का रूपान्तर कह सकते है। इसका सम्बन्ध शब्दवाद से है। इस सिद्धान्त का सकेत उपनिषदो मे बार-बार किया गया है। आगे चलकर भर्तृहरि ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ वाक्यपदीय में इसकी पूर्ण प्रतिष्ठा की। उपनिषदो का प्रणववाद प्रसिद्ध शब्दवाद का ही रूपान्तर है। प्रणववादी साधक की साधना का सकेत करते हुए श्रुति मे लिखा है—

"प्रणवो धनुः शरोहि आत्मा ब्रह्म तल्लक्ष्य मुच्यते।
अप्रमत्तेन वेधव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥"

अर्थात् आत्मा बाण और ब्रह्म लक्ष्य है, जिस प्रकार एक कुशल बेधक के द्वारा छोडा हुआ बाण सीधा निशाने को बेधकर उसमें समा जाता है, उसी प्रकार आत्मा को भी सीधे ब्रह्म मे जाकर लीन हो जाना चाहिए। शब्द सुरति योग की साधना भी ठीक इसी प्रकार की है। सुरति रूपी

आत्मा का शब्द रूपी ब्रह्म में लय करना ही शब्द सुरति योग है। "जो ब्रह्माण्डे सो पिण्डेजान" के सिद्धान्त के अनुयायी इस शब्द सुरति की साधना अपने पिण्ड मे ही करते है। उस स्थिति में वे बहिर्मुखी जीव का अन्तर्वासी शुद्ध-बुद्ध मुक्त नित्यस्वरूपी प्रत्यगात्मा से तादात्म्य स्थापित करते है। इसके लिए वे बहिर्गामी जीव को अन्तर्मुखी करते है। जीव को अन्तर्मुखी करने के लिए वे कभी तो हठयोग की साधना करते हैं कभी मन-साधना अपनाते है और कभी भावना का आश्रय ग्रहण करते हैं। जब मन-साधना एवं शुद्ध भावना से प्रेरित होकर बहिर्मुखी जीव अपने प्रियतम रूपी प्रत्यगात्मा से एकाकारिता प्राप्त करना चाहता है, तभी भावात्मक रहस्यवाद की अन्तर्मुखी प्रक्रिया सम्पन्न होती है। महात्मा कबीर की अन्तर्मुखी प्रक्रिया अधिकतर हठयोगमूलक ही है। उसका वर्णन साधनात्मक रहस्यवाद के अभिधान से किया जायगा। भावना प्रेरित प्रक्रिया के दर्शन उनमे केवल दो-चार स्थलों पर ही होते है। इसी प्रक्रिया के फलस्वरूप उन्हे उस महल के दर्शन ही होते हैं जिसे मुनिजन भी देख पाते है—

"मुनिजन महल न पावई तहाँ किया विश्राम।"

बहिर्मुखी प्रक्रिया—रहस्यवाद की इस अन्तर्मुखी प्रक्रिया के विरुद्ध उसकी एक बहिर्मुखी प्रक्रिया भी होती है। इन दोनों प्रक्रियाओ को स्पष्ट करते हुए अडरहिल ने लिखा है—"The full spritual Consciousness of the pure mystics is developed not in one but in two apparently opposite direchtions.On one hand he sees the sacramental unity with the whole world. Secondly he develops the power of apprehending truth." अर्थात् सच्चे रहस्यवादी का आध्यात्मिक विकास दो विरोधी धाराओं में उन्मुख होता है। एक से तो वह सारे संसार में एकात्मता का अनुभव करता है। दूसरे से

वह रहस्यमय सत्य की अनुभूति करता है। कबीर के रहस्यवाद की अन्तर्मुखी प्रक्रिया की थोड़ी-सी चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं। साधनात्मक रहस्यवाद पर विचार करते समय इस पर थोडा विस्तार से विचार करेंगे। अब हम उनके रहस्यवाद की बाह्यात्मक प्रक्रिया पर थोड़ा सा प्रकाश डाल देना चाहते है।

बहिर्प्रक्रिया के दो पक्ष—सारी सृष्टि से एकात्मता का अनुभव करना भारतीय धर्म और दर्शन की प्रधान विशेषता रही है। वेद के '*एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति*' '*रूपं-रूपं प्रतिरूपो बभूव*' आदि उक्तियाँ इसी एकात्मता की ओर सकेत कर रही है। भगवान् ने गीता मे इस एकात्मता को ज्ञान की पराकाष्ठा या सात्विक ज्ञान कहा है—

"सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तद्ज्ञानं विद्धि सात्विकम् ॥"

महात्मा कबीर भारतीय सत थे। उनकी आत्मा इस सात्विक ज्ञान से भरपूर थी। उनका यह सात्विक ज्ञान दो धाराओ मे विकसित हुआ है—अद्वैतवाद के रूप मे और साम्यवाद के रूप मे।

अद्वैतवाद की प्रस्थापना—अद्वैतवाद भारतीय वेदान्त दर्शन का सबसे मान्य सिद्धान्त है। इसके अनुसार ब्रह्म ही एक-मात्र सत्ता है। सब-कुछ ब्रह्म ही है। जीव और ब्रह्म मे कोई तात्विक भेद नही। जो भेद हमें दिखाई पड़ता है, वह मायामूलक है। माया अनिर्वचनीय है। माया का जब ज्ञान से निराकरण हो जाता है तभी जीव ब्रह्म रूप हो जाता है। अद्वैतवादी जगत् को मिथ्या मानते हैं। उनके अनुसार जगत् माया विनिर्मित होते हुए भी ब्रह्म मे प्रतिष्ठित है। संक्षेप में यही अद्वैत का सिद्धान्त है। रहस्यवाद की बहिर्मुखी प्रक्रिया भी साधक को अद्वैतता का अनुभव कराती है। दोनो में अन्तर केवल इतना है कि दार्शनिक अद्वैतवाद कोरा सिद्धान्त-कथन-मात्र होता है। किन्तु रहस्यवाद मे साधक अद्वैतता और एकात्मता का प्रत्यक्ष अनुभव करता

है। इस प्रकार दर्शन का सिद्धान्त रहस्यवादी के जीवन का एक अग बन जाता है। महात्मा कबीर ने रहस्यानुभूति की इस बहिर्प्रक्रिया की अभिव्यक्ति स्थूल रूप से तीन प्रकार से की है—

(१) सर्वत्र प्रियतम के दर्शन करने से
(२) रूपको और दृष्टान्तो के माध्यम से
(३) सिद्धान्त-कथन के ढग पर

प्रथम प्रकार की अभिव्यक्ति के उदाहरण रूप मे हम उनकी यह प्रसिद्ध सांखी दे सकते है। कबीर सर्वत्र ही अपने लाल की लाली देखते है यहाँ तक कि स्वय भी लाल रूप हो जाते है—

"लाली मेरे लाल की जित देखौं तित लाल।
लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल ॥"

दसरे प्रकार की अभिव्यक्ति का यह उदाहरण बहुत प्रसिद्ध है—

"जल में कुम्भ कुम्भ मे जल है बाहर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहि समाना यह तत कथ्यौ गियानी ॥"

तीसरे प्रकार के उदाहरण रूप मे निम्न लिखित पक्तियाँ दी जाती है। उन्हे हम सर्व का सर्व खल्विद रूपान्तर कह सकते है—

"लोका जानि न भूलो भाई।
खालिक खलक खलक में खालिक सब घट रह्यौ समाई ॥"

साम्यवाद प्रतिष्ठा—महात्मा कबीर ने आदर्श साम्यवाद की स्थापना की थी। उनका विश्वास था कि मानव-मात्र समान होते हैं। क्योकि सबका निर्माण एक ही बिन्दु मल-मूत्रादि से होता है। सबके शरीर म मास चमडी आदि समान रूप से पाई जाती है। सबमें प्राण-प्रतिष्ठा करने वाली ज्योति भा एक ही है। उनका साम्यवाद इस सीमा तक पहुँच चुका था कि वे स्त्री-पुरुष के, नाम-रूप के सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण आदि के तात्विक भेद भी स्वीकार नही करते थे।

(क) *"ऐसा भेद विगूचन भारी।*
वेद कतेब दीन अरु दुनियाँ, कौन पुरुष कोन नारी ॥"

(ख) *"एक बूँद एकै मल-मूतर एक चाम एक गूदा।*
एक ज्योति ये सब उत्पन्ना कौन बाह्मन कौन सूदा ॥
माटी का पिण्ड सहजि उतपन्ना नादरु व्यन्द समाना।
विनसि गया थै का नाव धरिहौ पढ़ि गुनि भ्रम जाना ॥
रज़गुन ब्रह्मा तमगुन शंकर सतगुन हरिहौ सोई।
कहै कबीर एक राम जपहु रे हिन्दू तुरक न कोई ॥"

इस प्रकार महात्मा कबीर ने बडे सशक्त तर्कों के आधार पर व्यावहारिक साम्यवाद की प्रतिष्ठा की थी। उनमे आध्यात्मिक साम्यवाद भी मिलता है, आध्यात्मिक साम्यवाद की प्रतिष्ठा उन्होने अद्वैतवाद के सहारे की थी। अद्वैतवाद का मूल सिद्धान्त यही है कि *'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'* अर्थात् सब-कुछ ब्रह्म रूप ही है। किन्तु माया के कारण इस सत्य की अनुभूति नही हो पाती। जब माया-जनित सशय नष्ट हो जाता है तभी सर्वत्र त्रिभुवननाथ के दर्शन होने लगते है—

"सोहं हंसा एक समान, काया के गुण आनहिआन।
माटी एक सकल संसारा बहु विधि भाँड़े घड़ै कुम्हारा ॥
पंचवरन दस दुहिए गाय, एक दूध देखौ पतियाय।
कहै कबीर संसा करि दूर, त्रिभुवननाथ रहा भरिपूरि ॥"

किन्तु इस प्रकार के वर्णन रहस्यवाद के नीरस उदाहरण-मात्र कहे जायँगे। वास्तव में यह वर्णन दर्शन और उपदेश के अधिक समीप है, रहस्यवाद के कम।

मूल तत्त्व प्रेम—कबीर का प्रेम तत्त्व उनके रहस्यवाद का प्राणभूत उपादान है, यह बात हम कई बार दोहरा चुके है। कितु कबीर के प्रेम का आदर्श अन्य प्रेमियो के आदर्श से भिन्न था। तुलसी ने अपने प्रेम का आदर्श चातक का प्रेम माना है। उन्होने इसके सहारे अपने भक्ति-मूलक प्रेम की तीव्रता साधनात्मकता एवं एकनिष्ठता पर विशेष बल दिया है। सूफी साधको ने भी अपनी साधना मे प्रेम को सबसे अधिक महत्त्व दिया

था। उनके प्रेम का आदर्श लैला, मजनू और शीरी, फरहाद आदि प्रेम कहानियो में प्रतिष्ठित किया गया है। उन्होने प्रेम मे वासना एवं भाव-मूलक तीव्रता और एकनिष्ठता को ही विशेष महत्त्व दिया है। कबीर ने अपने प्रेम का आदर्श तुलसी आदि भक्त कवियो तथा सूफी साधको के प्रेमादर्श से सर्वथा भिन्न प्रदर्शित किया है। उनके प्रेम का आदर्श सती और सूरा है। उसकी अभिव्यक्ति प्रतीको, रूपको एव अन्योक्तियो से · की गई है। वे प्रेम को केवल उपभोग की वस्तु नही मानते थे उनके प्रेम मे जहाँ एक ओर मादकता है, तीव्र माधुर्य है, खुमारी है वही उसमे घोर त्याग एव तपस्या, कठिन साधना, पूर्ण आत्म समर्पण आदि की भी आवश्यकता रहती है। अपने प्रेम की इन विभिन्न विशेषताओं को एक साथ व्यजित करने के लिए उन्होने सती और सूर के प्रतीक सामने रक्खे है। वे प्रेम को खाला के घर के सदृश केवल सुखमय ही नही मानते थे। उनके मतानुसार सच्चा प्रेम, घोर तपस्या, पूर्ण त्याग, और आत्म-समर्पण की भूमि पर ही पनपता है। इसीलिए उन्होने लिखा है प्रेम के घर मे वही प्रवेश कर सकता है जिसने अपना सिर काटकर अपने हाथ मे ले लिया है अर्थात् स्वय घोरातिघोर साधना के लिए प्रस्तुत है—

"कबिरा ये घर प्रेम का, खाला का घर नाहि।
सीस उतारे भुइँ धरे, सो पैठे घर माहि॥"

प्रेम के मार्ग मे इन्द्रियों से युद्ध करना पड़ता है। इस युद्ध मे वही सफल हो सकता है जो सच्चा वीर है या जिसमें सती नारी के समान पूर्ण पातिव्रत-जैसा युद्ध-व्रत पाया जाता है। वे कहते है कि इन्द्रियो से युद्ध करते हुए सच्चे प्रेमी को कभी पीछे नही हटना चाहिए—

"कबीर मर मैदान में करि इन्द्रियों सो जूझ।"

यह युद्ध बिना ज्ञान के विजय-विधायक नही हो सकता। ज्ञान के साथ-साथ सहज-सयोग की भी आवश्यकता होती है।

"सूरै सार संभांहिया पहिर्‌या सहज संजोग ।
अब के ज्ञानि गयंद चढ़ि खेत पड़न का जोग ॥"

ऐसा साधक रूपी सूर अपनी साधना के लिए सब कुछ त्यागकर भी कभी हिम्मत नही हारता—

"सूरा तबहि परखिए लड़ै धणीं के हेत ।
पुरजा-पुरजा ह्वै पड़ै तबहुँ न छाड़ै खेत ॥"

वह मृत्यु से भी नही डरता है। बल्कि सच तो यह है कि वह मृत्यु को आनन्दरूप मानने लगता है—

"जिस मरने ते जग डरै सों मेरे आनन्द ।
कब मरिहुँ कब देखिहुँ पूरन परमानन्द ॥"

जब साधकरूपी सूर अपना सिर काटकर अपने हाथ मे ले लेता है तब उसे भगवान् के दर्शन होते है।

"सूरै सीस उतारिया छाड़ तन की आस ।
आगे थे हरि मुलिकिया आवत देखा दास ॥"

जब साधक का मन अपने प्रियतम मे उसी प्रकार तन्मय हो जाता है जिस प्रकार सती का मन अपने प्रियतम मे तन्मय रहता है तभी दोनों का भेद मिटने लगता है—

"सती जलन कूँ नीकली, चित्तधरी एकवमेख ।
तन मन सौंपा पीव कूँ अन्तर रही न रेख ॥"

इस प्रकार कबीर ने अपने प्रेम की एकनिष्ठता, पवित्रता, तथा तपस्यामूलकता का अच्छा संकेत किया है। उनका प्रेम वास्तव मे बडा ही निर्मल और अनिर्वचनीय है।

अवस्थाएँ—रहस्यवाद का सूक्ष्म अध्ययन करने वाले आचार्यो ने प्रेम-साधना की अवस्थाओं के आधार पर रहस्यवादी साधना के विकास की कई अवस्थाएँ मानी है। इविलिन अडरहिल के मतानुसार वे अवस्थाएँ इस प्रकार है—

१—जागरण की अवस्था [State of awakening]
२. परिष्करण की अवस्था [Purification]
३. अशानुभूति की अवस्था [Illumination]
४ विघ्नो की अवस्था [Dark night]
५. मिलन की अवस्था [Unitive State]

आचार्य क्षितिमोहन मेन ने एक छठी अवस्था 'पूर्ण एकाकार' की मानी है। मेरी समझ मे इन अवस्थाओ से साधना के समस्त पक्ष स्पष्ट नही हो पाते है। रहस्यवाद की अवस्थाओ का निर्देश इस प्रकार किया जा सकता है—

(१) सत्यानुभूति के लिए तीव्र औत्सुक्य (२) गुरु की खोज, गुरु की प्राप्ति, गुरु का महत्त्व, गुरु-मत्र आदि (३) आध्यात्मिक जागरण की अवस्था (४) विवेक और वैराग्य की अवस्था (५) आत्म-परिष्करण की अवस्था (६) भावातिरेकता की अवस्था (७) आशिक अनुभूति की अवस्था (८) विघ्न और उनके युद्ध की अवस्था (९) विरह की अवस्था (१०) आत्म-समर्पण की अवस्था (११) मिलन की पूर्वावस्था (१२) मिलन की अवस्था (१३) पूर्ण आत्म-समर्पण की अवस्था (१४) तादात्म्य की अवस्था।

जागरण की अवस्था—प्रथम दो अवस्थाओ का सकेत हम पहले ही कर चुके है। अब हम अन्य अवस्थाओ का विवेचन करेंगे। तीसरी अवस्था जागरण की है, जब गुरु गुरुमंत्र दे देता है तो साधक सत्य की खोज की ओर उन्मुख हो उठता है। इस जागरण की अवस्था मे साधक मे विवेक का उदय होता है। यह विवेक उसमें संत और असंत का भेद स्पष्ट करता है। महात्मा कबीर मे इस अवस्था के स्पष्ट चित्र पाये जाते है। कबीर असत् ससार के पीछे जा रहे थे किन्तु गुरु ने कृपा की, वे सन्मार्ग की ओर उन्मुख हो उठे—

"पीछे लागा जाय था लोक वेद के साथ।
आगे तें सतगुरु मिला दीपक दीया हाथ ॥"

दूसरे स्थल पर वे कहते है—

"ज्ञान प्रकासा गुरु मिल्या सो जनि बीसरि जाय।
जब गोविन्द कृपा करी तब मिलिया गुरु आय ॥"

विवेक और वैराग्य—गुरु की कृपा से साधक का विवेक इतना जाग्रत हो जाता है कि वह केवल गोविन्द को ही सत् रूप समझने लगता है—

"चौसठ दीवा जोईकर चौदह चन्दा माँहि।
तिंह घर किसकौ चानिणौ जिहि घर गोविन्द नाहि ॥"

इसी अवस्था मे माया के मिथ्यात्व का भी ज्ञान हो जाता है—

"माया दीपक नर पतंग भ्रमि भ्रमि इवै पड़न्त।
कहै कबीर गुरु जान थे एक आध उबरन्त ॥"

इस अवस्था में किसी प्रकार का सशय, जो विनाश का मूल है, नही रह जाता—

"संसय खाया सकल जग संसा किनहू न खद्ध।
जे वेधे गुरु अक्खिरा तिनि संसा चुणि खद्ध ॥"

किन्तु इस प्रकार का विवेक सबको नही होता। इसके लिए गुरु का सद् और शिष्य का सुपात्र होना आवश्यक है। यदि गुरु ही अंधा और अविवेकी है तो फिर क्या है गुरु-शिष्य दोनो ही कूप मे पडेंगे—

"जाका गुरु भी आँधला चेला खरा निरंध।
अन्धा अन्धै ठेलिया दून्यों कूप पड़न्त ॥"

और यदि शिष्य ही अनधिकारी और अयोग्य है तो फिर उसे विवेक कैसे हो सकता है—

"सतगुरु बपुरा क्या करे जो सिखही माँही चूक।"

अथवा

"सतगुरु मिल्या तो क्या भया जे मनि पाणी भोल ।
पासि विनटा कप्पड़ा क्या करै बिचारी चोल ॥"

इस प्रकार स्पष्ट है कि जागरण जनित की अवस्था तभी उदय होगी जब शिष्य अधिकारी और पात्र होगा और उसे सद्‌गुरु मिल जायगा।

जायसी ने जागरण की अवस्था के बाद वैराग्य की अवस्था का वर्णन किया है। उनके अनुसार जागरण के बाद यही अवस्था आती है। यह बात उनकी इस पक्ति से स्पष्ट ध्वनित है—

"जब भा चेता उठा वैरागा ।
बाउर जनौ सोइ उठि जागा ॥"

वैराग्य सभी प्रकार के आध्यात्मिक साधनो के लिए परम अपेक्षित होता है। फिर कबीर फक्कड़ थे ही, वे विवेकी होते ही घर फूँक तमाशा देखने को निकल पड़े—

"हम घर जाल्या आपुंड़। लिया मुराड़ा हाथि ।
अब घर जालौ तास का जे चले हमारे साथि ॥"

और भी देखिए—

"जग सो प्रीत न कीजिए समझि मन मेरा ।
स्वाद हेत लपटाइए को निकसै सूरा ॥"[1]

लोक-संग्रह—इसी अवस्था मे पहुँचकर रहस्यवादी वैरागी के साथ साथ उपदेशक बन जाते है एक ओर तो वे ससार की नश्वरता का सकेत करते है दूसरी ओर सदाचार का उपदेश देते हैं। जगत् की नश्वरता का प्रतिपादन देखिए—

"कबीर कहा गरबियो इस जोवन की आस ।
केसू फूले दिवस चारि खंखर भये पलास ॥"

[1] 'कबीर ग्रन्थावली', पृष्ठ १५१

"कबीर कहा गरबियों देही देख सुरंग।
बीछड़ियाँ मिलिबो नहीं ज्यों काँचुली भुवंग ।।"

सदाचार के उपदेश देखिए—

"काम क्रोध तृष्णा तजै ताहि मिलै भगवान्"

सम्भवतः इन्ही उपदेशों के कारण रहस्यवादी को लोक-रक्षक की उपाधि दी जाती है।

Joyous Mysticism नामक ग्रन्थ मे M. Spencer ने लिखा है—"Mystics are the highest saviours of the world." अर्थात् रहस्यवादी लोक के महान् रक्षक होते है।

आत्म-परिष्करण की अवस्था या सदाचरण—वैराग्य की अवस्था के बाद आत्म-परिष्करण की अवस्था आती है। इस सम्बन्ध मे कोई निश्चित नियम नही है। प्रत्येक साधक अपने-अपने ढग पर आत्म-परिष्करण करता है। कबीर ने आत्म-परिष्करण के लिए किसी साधना-पद्धति विशेष के विधि-विधानो का निर्देश नही किया है। उन्होने अधिकतर उन्ही नैतिक बातों पर जोर दिया है जिनसे समाज मं किसी प्रकार के मिथ्याडम्बर फैलने की आशका नही रहती इनमें से उन्होने कुछ का निर्देश विधि के रूप मे किया है और कुछ निषेधो के रूप मे। इन नैतिक विधि-निषेधों की अभिव्यक्ति अधिकतर उपदेशात्मक शैली में हुई है। सबसे पहली बात, जिस पर कबीर ने विशेष बल दिया है, वह है निष्कपटता—सच्चे साधक का हृदय अवश्य ही निष्कपट होना चाहिए। यदि हृदय निष्कपट नही है तो सभी साधनाएँ व्यर्थ है—

"हृदय हेत हरि सू नहिं साँचो।
कहा भयो जो अनहद नाच्यो ।।"

वे वेश-भूषा को कोई महत्त्व नही देते थे। यदि साधक का हृदय शुद्ध और निष्कपट है तो फिर चाहे वह जटा रख ले या मूड मुडा ले दोनों में कोई अन्तर नही पड़ता।

"साँई सेति साँच चल औरा सो सुध भाई।
भावै लाँबे केस कर भावै घुटड़ि मुड़ाई॥"

हृदय की निष्कपटता के साथ-साथ सत्य, शील, भाव, भक्ति आदि का पालन भी आवश्यक होता है—

"साँच शील का चौका दीजै।
भाव भगति की सेवा कीजै॥"

मन को साधना—इस प्रकार के आचरण करने के लिए सबसे आवश्यक बात है अपने मन को अपने अधीन रखना। मन की प्रवृत्ति बहिर्मुखी होती है, वह स्वभाव से ही बाह्य विषयो में आसक्त रहता है। यदि वह वश में न रखा जाय तो बड़ा अनर्थ हो सकता है; इसलिए कबीर ने मन-साधना पर बहुत बल दिया है। वे मन को गोविन्द रूप मानते थे। इसीलिए उन्होने उसे अपने अधीन करने का उपदेश दिया है—

"मन गोरख मन गोविन्दों
मन ही औघड़ होय।
जे मन राखे जतन कर
तो आपै करता सोय॥"

जब इस मन को धीरे-धीरे साधना करते-करते बिलकुल मार दिया जाता है तभी ब्रह्म के दर्शन होते है—

"मैं मंता मन मारि रे नन्हा करि-करि पीस।
तब सुख पावै सुन्दरी ब्रह्म झल्लके सीस॥"

प्रपत्ति मार्ग—मन-साधना का मार्ग वास्तव में कठिन है। साधारण साधक इतनी कठिन साधना नहीं कर सकता। अतएव कबीर ने प्रपत्ति का सरलतम मार्ग भी निर्देशित किया है। प्रपत्ति का अर्थ है शरणागति। भगवान् को पूर्ण आत्म-समर्पण कर देना ही प्रपत्ति है। इसके विविध अग भी होते है। इन सबका यहाँ वर्णन करना कठिन ही नही अनावश्यक भी है। कबीर ने प्रपत्ति का स्थान-स्थान पर उपदेश दिया है।

"कहत कबीर सुनहुँ रे प्रानी
छाँड़हु मन के भरमा।
केवल नाम जपहु रे
परहु एक की सरना ॥"

आत्म-समर्पण का देखिए कितना विनम्र कथन है—

"कबीर कूता राम का मोतिया मेरा नाउ ।
गले राम की जेवड़ी जित खीचौ तित जाउँ ॥"

सत्संगति—आत्म-सुधार-विधायक साधनो मे कबीर ने सत्संगति को भी बहुत अधिक महत्त्व दिया है। क्योकि साधु-सगति कभी व्यर्थ नही जाती।

"कबीर संगति साध की कहे न निरफल होय ।
चन्दन होसी बावना नींव न कहसी कोय ॥"

साधु-सगति दुरमति को दूर करके सुमति प्रदान करती है—

"दुरमति दूरि गवॉइसी देती सुमति बताई ।
कबीर संगति साधु की वेगि करी जै आई ॥"

कबीर के नाम से प्रसिद्ध निम्नलिखित पद मे रूपकात्मक प्रतीको के सहारे देखिए आत्म-परिष्करण मे सत्सगति का कितना महत्त्व ध्वनित किया गया है—

"कौन रँगरेजवा रंगै मोर चुन्दरी।
पाँच तत्त की बनी चुन्दरियाँ चुन्दरी पहिरिके लगे बड़ी सुन्दरी ।
टेकुआ तागा करम के धागा गरे विच हरवा हाथ विच मुँदरी ॥
सोरहो सिंगार बतीसो अभरन पिय पिय रटत पिया सँग धुमरी ।
कहत कबीर सुनो भई साधो बिन तत्संग कवन विधि सुधरी ॥"

रहस्यवाद के अन्तर्गत परिष्करण के साधनों का इसी शैली मे वर्णन करने वाले पद आयेंगे। उपरिलिखित कुछ साखियाँ बात को स्पष्ट करने मात्र के लिए ही दी गई है। वे रहस्यवाद के सच्चे उदाहरण नही है।

ज्ञान—आत्म-परिष्करण के लिए सदाचार, मन-साधना और प्रपत्ति मार्ग के अतिरिक्त ज्ञान की भी आवश्यकता होती है बिना ज्ञानरूपी आँधी मे भ्रमरूपी टाटी उड़ ही नही सकती—

"संतो भाई आई ज्ञान की आँधी।
भ्रम की टाटी सबै उड़ानी माया रहै न बाँधी॥"

ज्ञान की लहरी ही अनहद नाद के श्रवण मे सहायक होती है और तृष्णा नष्ट कर देती है—

"अवधू ग्यान लहर धुनि माँडी रे।
सबद अतीत अनाहद राता, रहि विधि शिष्णां षाडी।"

जिसने ज्ञान का विचार नही किया तो समझ लेना चाहिए उसका जन्म व्यर्थ है—

"जो मैं ग्यान विचार न पाया।
तो मै यों ही जन्म गँवाया॥"
"वह ससार हाट करि जानूॅ, सबको बणिजण आया।
चेति सकै तो चेतौ रे भाई, मूरिख मूल गँवाया॥"

× × × ×

"जे जन जानि जपैं जग जीवन, तिनका ग्यान न नासा।
कहैं कबीर वै कबहूॅ न हारैं, जानि न टारैं पासा॥"

प्रेम-भगति—ज्ञान के अतिरिक्त 'प्रेम भगति' भी साधक के परिष्करण मे बहुत अधिक सहायक होती है। कबीर ने प्रेम-भगति हिंडोलने का बडे सुन्दर ढंग से वर्णन किया है—

"हिंडोलना तहाँ भूलै आतम राम।
प्रेम भगति हिंडोलना सब सेतनि को विश्राम॥"

इसलिए कबीर को प्रेम भगति करने का उपदेश देना पड़ा है—

"प्रेम भगति ऐसी कीजिए,
मुख अमृत बरसै चंद।"

भावातिरेकता अवस्था—आत्म-परिष्करण हो जाने पर साधक भाव-जगत् मे पैठकर अपने प्रियतम को प्राप्त करना चाहता है। इसके लिए भावातिरेकता की अवस्था का उदय होना नितान्त आवश्यक होता है। सभी रहस्यवादी इसकी आवश्यकता का अनुभव करते है। Joyous Mysticism मे स्पेन्सर लिखते है "Mysticism is a religion of the heart and when the heart is touched it is natural that their should be divine ecstacies. Accompanied even by rapturous dancing and singing. अर्थात् रहस्यवाद हृदयमूलक धर्म है जब हृदय प्रभावित हो जाता है तब आनन्दमयी भावातिरेकता की स्थितियो का उदय होना स्वाभाविक होता है। उनमे भावात्मक नृत्य और संगीत भी प्रादुर्भूत हो जाते है। अब प्रश्न यह है कि वे कौन-सी बातें है जिनसे हृदय इतना अधिक प्रभावित हो जाता है कि भावातिरेकता की अवस्था जाग्रत हो जाती है इस सम्बध में आचार्यो मे मतैक्य नही है।

रहस्यवादी कबीर भी भावातिरेकता का अवस्था मे विश्वास करते थे। उन्होंने इस अवस्था का वर्णन कही पर उन्मनि और कही समाधि के नाम से किया है। कबीर ने समाधि या सहज समाधि की अवस्था का जन्म कई बातो से माना है। हम ऊपर रहस्यवाद की आन्तरिक प्रक्रिया की चर्चा करते समय उलटी चाल से समाधि की अवस्था का उदय होना बता चुके है अतः यहाँ पर उसे दोहराना बेकार है। कबीर को समधि की अवस्था तक ले जाने वाली दूसरी साधना भक्ति- मार्ग की है। जो सच्चा भक्त है वह भगवान् के गुणो का वर्णन करता हुआ आनन्द-निमग्न रहता है। इस आनन्द की अवस्था मे, इस समाधि की स्थिति मे कोई भी सांसारिक द्वन्द्व उसे व्याप्त नही होते है।

"राम भजै सो जानिए जाके आतुर नाहि
सत सन्तोष लीए रहै धीरज मन मांहि
जन को काम क्रोध व्यापै नहीं तृष्णा जरावै
प्रफुल्लित आनन्द में गोविन्द गुण गावै
जन को पर निंदा भावै नहीं और असति न भाखै
काल कल्पना मेटि कर चरन चित राखै
जन सम दृष्टि सीतल सदा दुविधा नहि आनै
कहै कबीर ता दास सू मेरा मन मानै।"

नाम-जप—भक्ति एवं उलटी चाल के अतिरिक्त कबीर ने नाम-जप को भी विशेष महत्त्व दिया है। साधक राम का नाम स्मरण करते-करते राममय हो जाता है।

(*i*) *"तू तू करता तू भया मुझमें रही न हूँ।*
बारी फेरी बलि गई जित देखौ तित तू॥"

(*ii*) *"मेरा मन सुमिरै कू मेरा मन रामहि आहि।*
अब मन रामहि ह्वै रहा सीस नवावो काहि॥"

किन्तु यह स्मरण षट्मुखी-होना चाहिए। पांच ज्ञानेन्द्रियो और मन इन छहो से स्मरण करना चाहिए तभी 'राम रतन' की प्राप्ति होगी—

"पच संगी पिउ-पिउ करैं छठा जो सुमिरं मन।
आइ सूति कबीर की पाया राम रतन॥"

यह तभी भावातिरेकता को जन्म दे सकता है जब मनसा वाचा कर्मणा किया जाय—

"मनसा वाचा कर्मणा राम नाम सो होत।"

कीर्तन—नाम-जप के अतिरिक्त वे सम्भवत. कीर्तन और सगीत में भी विश्वास करते थे। उनका कीर्त्तन-प्रेम उनकी पैगम्बर पीर की प्रशंसा से टपकता है—

"हज्ज हमारी गोमती तीर,
जहाँ बसै पीताम्बर पीर ।
वाह-वाहु क्या खूब गावता है,
हरि का नाम मेरे मन भावता है ॥"

उनका संगीत-प्रेम उनके सगीत-सम्बधी रूपको से प्रकट होता है। यों तो कबीर ने भावातिरेकता को जन्म देने वाले उपयु क्त साधनो का आश्रय लिया है किन्तु मेरी दृष्टि मे यह सब साधन गौण है । उनकी भावात्मकता के विधायक योग और प्रेम-तत्त्व ही है प्रेम और योग के सहारे ही कबीर सहज समाधि की प्राप्ति करते है ।

कबीर की भावातिरेकता और प्रेम—यहाँ पर योग-जनित भावातिरेकता का उल्लेख नही किया जायगा । इसका विस्तृत वर्णन साधनात्मक रहस्यवाद के अन्तर्गत किया जायगा । देखिए कबार प्रेम रस की भावातिरेकता के उदय मे कितना सहायक मानते है । वास्तव मे प्रेम रस बडा मधुर होता है उसे पीकर साधक आनन्द-निमग्न हो जाता है—

"राम रसायन प्रेम रस पीवत अधिक रसाल ।
कबीर पीवरण दुर्लभ है माँगै सीस कलाल ॥"

इस 'हरि रस' या प्रेम को पीकर ही साधक समाधि का स्थिति को प्राप्त हो जाता है; कबीर ने इसे सहज समाधि कहा है । यही उनकी उन्मनावस्था भी है—

"जब थे इन मन उन मन जाना,
तब रूप न रेख तहाँ ले बाना ।
तन मन मन तन एक समाना,
इन अनभै माहै मन माना ।
आतम लीन अखण्डित रामा,
कहै कबीर हरि माहि समाना ॥"

इसी अवस्था मे साधक महा रस का पान करता है—

आत्मा अनन्दी जोगी पीवे महा रस अमृत भोगी ॥
ब्रह्म अगिनि पर जारी अजपा जाप उन्मनी तारी ॥
त्रिकुट कोट में आसन माँडै सहज समाधि विषै सब छाँडै ॥

इसी उन्मनावस्था में जब उसे प्रियतम इत्यादि के रहस्य की अनुभूति होती है तभी वह चिल्ला उठता है—

"जानी-जानी रे राजा राम की कहानी ।"

विघ्न की अवस्था—किन्तु भावातिरेकता की यह अवस्था, कबीर की यह सहज समाधि स्थिर नही रह पाती है । माया उसमें बाधक हो जाती है—

"मुख कड़ियाली कुमति की कहन न देई राम ।"

माया—कबीर ने माया के बड़े ही रोचक और रहस्यमय वर्णन लिखे है । देखिए डायन के रूपक से उसका कितना रहस्यपूर्ण और मनो-रंजक चित्र चित्रित किया है—

"इकि डायनि मेरे मन में बसै रे ।
नित उठि मेरे जिय को डसै रे ॥
"या डायनि के लरिक पाँच रे निसदिन मोहि नचावैं नाँच रे ॥"

यह माया विविध प्रकार से मनुष्य को फँसाना चाहती है देखिए वह कैसी ट्रिक खेलती है—

"नेक निहारि हो माया विंनती करै ।
दीन वचन बोलै कर जोरै, पुनि-पुनि पाँइ परै ॥
कनक लेहु जेता मनि भावै, कामिनि लेहु मन हरनी ।
पुत्र लेहु विद्या अधिकारी, राज लेहु सब धरनी ॥
अठि सिन्ध लेहु तुम्ह हरि के जनां, नवैं निधि है तुम्ह आगै ।
सुरनर सकल भवन के भूपति, तेऊ लहै न माँगै ॥" इत्यादि

यह माया सच्चे सत से ही डरती है—

"एक सुहागनि जगत् पियारी, सकल जीव जंत की नारी।
खसम मरै वा नारि न रोवै, उस रखवाला औरै होवै ॥
रखवाले का होई विनास, उतहि नरक इत भोग विलास ॥
सुहागनि गलि सो हार, संतनि बिख बिलसै संसार ॥
पीछै लागी फिरै पचि हारी, संत की ठठकी फिरै बिचारी ॥
संत भजें वा पाछी पड़े, गुर के सबदूं मारयौ डरैं ॥
साषत कै यहु व्यंड परांइनि, हमारी द्रिष्टि परै जैसै डांईनि ॥
अब हम इसका पाया भेद, होइ कृपाल मिले गुरदेव ॥
कहै कबीर इब बाहरि परी, ससारी कै अचंलि टरी ॥"

माया के इस प्रकार के और भी अनेक सुन्दर चित्र कबीर मे पाए जाते है।

विरह तत्त्व—जब माया प्रियतम को आंशिक अनुभूति से विरत कर देती है तो साधक विरह से तडप उठाता है। यह विरह तत्त्व रहस्य-वादी साधना मे अपना बहुत बडा महत्त्व रखता है। विरह की अग्नि मे ही साधक इस माया को भस्म करना चाहता है—

"लावो बाबा जलावो घरा र
जा कारण मन धंधे परा रे।"

विरह पुकार-पुकार कर कहता है कि वह उसे परब्रह्म तक ले जायगा—

"विरहा कहै कबीर सौं तू जिन छॉडै मोहि
पारब्रह्म के तेज में तहॉ ल राखौं ताहि ॥"

इसीलिए किसी को विरह की निन्दा नही करनी चाहिए। वह तो साधना का सुलतान है—

"विरहा बुरहा मत कहौ, विरहा है सुलतान
जिहि घर विरह न संचेरे सो घर सदा मसान।"

वास्तव मे प्रियतम-प्राप्ति का सबसे सरलतम मार्ग विरह का ही

है। विरह मानव का पूर्ण परिष्करण कर देता है तभी तो सूफी कवि उसमान ने लिखा है—

"बिरह अगिनि जरि कुन्दन होई,
निर्मल तन पावै पै सोई।"

महात्मा कबीर भी इसी सिद्धान्त मे विश्वास करते थे। इसीलिए उन्होने स्पष्ट लिखा है कि साधक सासारिक सुखोपभोगो से नही, बल्कि रुदन-हाहाकार-प्रधान विरह से ही प्रियतम की प्राप्ति में समर्थ होता है।

"हंस हंस कंत न पाइए जिनि पाया तिनि रोय।"

मच्चे बिरह की कसौटी यही है कि रोते रोते आँखो से लहू टपकने लगे।

"जे लोचन लोहू चुवै तो जानै हेत हियाहिं॥"

इसीलिए सच्चा साधक सासारिक सुखो का परित्याग करके आध्यात्मिक विरह मे लीन रहना ही श्रेयस्कर समझता है।

"कबीर हँसना दूरि करि रोवण सोकरि चित्त।
बिन रोया क्यों पाइए प्रेम पियारा मित्त॥"

विरह-साधना के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए महात्मा कबीर ने विरह दीपक का गम्य रूपक सामने रक्खा है। जब सच्चा साधक अपने शरीर रूपी दीप मे जीव रूपी बत्ती तथा अश्रुजनित रक्त रूपी तेल डालकर उसे ज्योतित करता है, तभी उसे अपने प्रियतम के दर्शन होते है।

"इस तन का दीवा करूँ बाती में ल्यूँ जीव।
लोहू सींचू तेल ज्यों, तब मुख देखूँ पीव॥"

इस प्रकार विरह-साधना में लीन साधक या तो जीवित ही नहीं रहता और यदि किसी प्रकार जीवित भी रह जाय तो वह बावला हो जाता है—

"राम वियोगी ना जिये जिये तो बौरा होय।"

क्योकि विरह सर्प के सदृश भयकर होता है उसकी विप रूपी पीड़ा को सहन करने की शक्ति केवल साधु मे ही होती है ।

"विरह भुअंगम पैसि कर किया कलेजे घाव ।
साधु अंग न मोड़ही ज्यों भावै त्यों खाय ॥"

विरह-साधना का साधक की दृष्टि मे एक और महत्त्व है । वह अपने शरीर को विरहाग्नि मे इसलिए जला देना चाहता है कि किसी प्रकार उसके जलने का धुआँ ही प्रियतम तक पहुँच जाय । उस धुएँ को देखकर कदाचित् प्रियतम तरस खा ही जाय और प्रेमी का दर्शन दे ही दे, जिससे सारी ज्वाला शान्त हो जाय ।

"यह तन जालू मसि करू ज्यों धूवाँ जाय सरग्गि ।
मति वै राम दया करैं वरसि बुझावै आग्ग ॥"

विरह विरही के शरीर की समस्त धमनियो की ताँत तथा शरीर को रबाव बनाकर हर समय बजाता रहता है । उस दैवी सगीत को साधारण मानव नही सुन सकता । उसे या तो साधक सुनता है या उसका साध्यरूप प्रियतम ।

"सब रंग तंत रबाव तन विरह बजावै नित्त ।
और न कोई सुनि सकैं कै साँई कै चित्त ॥"

कबीर मे विरह के कुछ अधिक भावात्मक चित्र भी मिलते है । ऐसे स्थलों पर उन्होने दाम्पत्य प्रतीको का प्रयोग किया है । उन्होंने अधिकतर साधक को प्रियतमा या पत्नी और साध्य को प्रियतम अथवा पति रूप में ही कल्पित किया है ।

इस प्रकार के दाम्पत्य-प्रतीको के सहारे अभिव्यक्त विरह चित्रो में एक विचित्र माधुर्य पाया जाता है । इनसे कबीर के रहस्यवाद का मूल्य बहुत बढ़ गया है । यहाँ पर इस कोटि के कुछ मधुरतम चित्रो का संकेत कर देना अनुपयुक्त न होगा ।

अश्रुओं का विरह-वेदना मे बहुत बड़ा महत्त्व है । फारसी काव्य-

शास्त्र मे इसीलिए विरह की नौ अवस्थाओ मे इसे भी स्थान दिया गया। हमारे यहाँ इसकी गणना सात्विको के अन्तर्गत की गई है। हिन्दी के छायावादी कवियों ने इन्हे 'जीवन की अनुपम निधि' माना है। 'जीवन की यह अनुपम निधि' रहस्यवादियो का सब-कुछ है। महात्मा कबीर ने भी विरहिणी की साश्रु अवस्था के मार्मिक चित्र चित्रित किये है। एक चित्र है कि विरहिणी ने रो-रोकर अपनी आँखे लाल कर ली है यह लालिमा प्रियतम के प्रेम का प्रतीक है। किन्तु ससार वाले इस रहस्य को नही समझते। वे सोचते है कि कबीर की आँखे दुखने आई है। वास्तव मे बड़ी विडम्बना है—

"आँखड़ियाँ प्रेम कसाइयाँ लोग जानैं दूखड़ियाँ।
साईं अपने कारणैं रोइ रोइ रातड़ियाँ॥"

इसी साश्रु अवस्था का वर्णन उन्होने एक दूसरे स्थल पर एक दूसरे प्रकार से किया है। नेत्रो से हर समय जल-धारा प्रवाहमान रहती है। इस बात को कवि ने रहट के दृष्टान्त से बडे प्रभावपूर्ण ढग से कह दिया है—

"नैंना नीझर लाईया रहट बहै निसि जाम।
पपिहा ज्यों पिव-पिव करैं कवहु मिलैगे राम॥"

इसी प्रकार विरह की अन्य अवस्थाओं के सरस वर्णन भी मिलते है। संस्कृत-काव्य-शास्त्र में वर्णित विरह की अवस्थाओ में सर्वप्रथम अभिलाषा आती है। कबीर में इस अवस्था के भावपूर्ण चित्र मिलते है। विरही की सबसे सात्विक अभिलाषा अपने प्रियतम के दर्शन की होती है। दर्शनों के लिए व्याकुल प्रियतमा कल्पना और भावना में ही अपने प्रियतम के दर्शन करती है। अपने दर्शन की पिपासा को इसी प्रकार शान्त करती है—

"नैना अन्तरि आचरु निसि दिन निरखौ तोहि।
कब हरि दर्शन देहुगे सो दिन आवै मोहि॥"

दर्शन की अभिलाषा के सदृश ही मिलन की अभिलाषा भी बडी ही मार्मिक होती है। विरहिणी मार्ग की ओर ही ध्यान लगाए रखती है जो पथिक आते हुए दिखाई पडते है उनसे प्रियतम का सदेश पूछती है—

"विरहिन ऊभी पंथ सिर पंथी बूझै धाय।
एक सबद कहि पीव का कबरु मिलैंगे आय॥"

इस साखी में अभिलाषा के साथ-साथ प्रतीक्षा और आशा की अवस्था की ध्वनि भी मिलती है। फारसी-काव्य-शास्त्र की दृष्टि से इसे हम 'इन्तजारी' और 'बेकरारी' की हालतो का मिला हुआ रूप कह सकते है।

विरहजनित टीस एव वेदना की भी अभिव्यक्ति कबीर में बडी ही भावात्मक शैली मे हुई है। निम्न लिखित पद के एक-एक शब्द से असीम वेदना असह्य टीम और अतीव आकुलता टपक रही है—

"तलफै बिन बालम मोर जिया।
दिन नहि चैन रात नहि निदिया, तलफ तलफ के भोर किया।
तन मन मोर रहट अस डोले सून सेज पर जनम छिया॥
नैन थकित भए पंथ न सूझै साँई बेदरदी सुध न लिया।
कहत कबीर सुनो भाई साधो हरो पीर दुःख जोर किया॥"

इसी प्रकार एक दूसरे पद मे भी देखिए विरहजनित व्यथा की कथा कैसे मार्मिक ढंग से कही गई है। विरहिणी प्रियतम से कहती है—'नाथ सब कोई मुझे तुम्हारी नारी कहता है किन्तु तुम मेरी रत्ती-भर भी चिन्ता नहीं करते हो। मै तुम्हारे विरह में क्षीण होती जाती हूँ। प्रियतम प्रियतमा का सम्बन्ध ही कैसा जब दोनो मिलकर एक नही हो जाते—

"बालम आओ हमारे गेह रे।
तुम बिन दुखिया देह रे॥
सब कोई कहै तुम्हारी नारी।
मोको है सन्देह रे॥

एक मेक ह्वै सेज न सोवै।
तब लग कैसा नेह रे ॥" इत्यादि

कबीर का लक्ष्य अलौकिकता की आड में लौकिकता का वर्णन करना नहीं था यही कारण है कि इतने मधुर चित्र चित्रित करते हुए भी वे यह बात नही भूलते कि वे एक भक्त है। उनका लक्ष्य अपने भगवान् के दर्शन प्राप्त करना है—

"कब देखूँ मेरे राम सनेही।
जा बिन दुःख पावै मेरी देही॥ टेक ॥
हूँ तेरा पथ निहारूँ स्वामी।
कबर मिलिहुगे अन्तर्यामी॥
जैसे जल बिन मीन तलफै।
ऐसे हरि बिन मेरा जिया कलपै॥
निस दिन हरि बिन नींद न आवै।
दरस पियासी राम क्यों सचुपावै॥
कहै कबीर अब विलम्ब न कीजै।
अपनो जानि मोहि दर्शन दीजै।"

आत्मा किस प्रकार ससार मे आकर सासारिक बन्धनो में बँध जाती है, उसे यह स्मरण ही नही रहता कि उसको अपने प्रियतम से मिलना भी है, इस बात को कबीर ने विवाह के रूपक से बड़ी ही गूढ भावात्मक शैली मे इस प्रकार व्यक्त किया है—

"मैं सासने पीव गौहनि आई।
सांई संग साध नहि पूजी,
गयो जीवन सुपिना की नाई ॥टेक॥
पंच जना मिलि मंडप छायो,
तीन जना मिलि लगन लिखाई॥

सखी सहेली मंगल गावैं ।
सुख दुःख माथे हलद चढ़ाई ॥
नाना रगै भावरी फेरी ।
गाठ जोर बाबै पति ताईं ॥
पूरि सुहाग भयो बिन दूलह ।
चौक के रंग धरयो सगी माई ॥
अपने पुरिख मुख कबहुँ न देख्यो ।
सती होत समझी समझाई ।
कहै कबीर हूँ सर रचि मरहूँ ।
तिरौ कंत ले तूर बजाई ।"

इस प्रकार कबीर के रहस्यवाद में विरह की विविध अभि-व्यक्तियों पाई जाती है। उनके विरह-वर्णन के भावात्मक चित्रो से उनके रहस्यवाद का मूल्य बहुत बढ़ गया है ।

आध्यात्मिक युद्ध—विरहोदय के साथ-ही-साथ युद्ध को अवस्था भी प्रारम्भ हो जाती है । माया और उसका समाज ही साधक की आंशिक अनुभूति की अवस्था को शाश्वत अनुभूति की स्थिति नही बनने देता । इसीलिए साधक इनको अपना कट्टर शत्रु समझने लगता है । इसके विरुद्ध युद्ध करना उसके जीवन का लक्ष्य हो जाता है । इस युद्ध मे सूर साधक ही सफल होता है । ऐसा साधक जीवन-मरण को समान समझकर युद्ध क्षेत्र नही छोड़ता; चाहे फिर वह टुकड़े-टुकड़े होकर नष्ट ही क्यो न हो जाय—

(i) *"सूरा तबहि समझिए लड़ै धनी के हेत ।*
पुरजा पुरजा ह्वै पड़ै तऊ न छाड़ै खेत ॥"

(ii) *"खेत न छाड़ै सूरिवाँ झूझैं द्वै दल माहिं ।*
आशा जीवन मरण की मन में आवै नाहि ।"

इस अवस्था मे साधक के हृदय मे साध्य के प्रति किसी प्रकार के सशय शेष नही रह जाते हैं। हरि मे उसकी पूर्ण निष्ठा हो जाती है। इस प्रकार निश्चिन्त होकर वह काम-क्रोधादि शत्रुओ से युद्ध करने मे संलग्न हो जाता हैं—

"कबीर मेरे संसा को नहीं हरि सूँ लागा हेत।
काम क्रोध सू झूझणा चौड़ै माड्या खेत॥"

सच्चा साधक रूपी सूर व्यर्थ के प्रदर्शन मे विश्वास नही करता प्रदर्शन की प्रवृत्ति तो कायर रूप झूठे साधक मे होती है—

"कायर बहुत पमावहीं बहाक न बोलै सूर।
काम पड़ा ही जाड़िए किसके मुख पर नूर॥"

ऐसे सूर साधक को मृत्यु भी प्यारी लगने लगती है। वह कहता है—

"जिस मरने थे जग डरै सो मेरे आनन्द।
कब मरिहो कब देखिहौ पूरन परमानन्द॥"

इस प्रकार काम-क्रोधादि से युद्ध करते-करते वह उन पर विजय प्राप्त कर लेता है। इसीलिए माया और काम-क्रोधादि सत से डरते हैं—

"संत की ढिठकी फिरै विचारी"

आत्म-समर्पण की अवस्था—इस प्रकार साधक एक ओर विरह की दैवी अग्नि मे अपनी आत्मा परिष्कृत करता है और दूसरी ओर इन्द्रियो से युद्ध करके उन पर विजय प्राप्त कर लेता है। अब वह आत्म-समर्पण प्रपत्ति और न्यास के मार्ग को अपनाता है। पूर्ण समर्पण के बिना प्रियतम से मिलन नही होता। सम्भवतः इसीलिए हमारे धार्मिक साहित्य में प्रपत्ति को इतना अधिक महत्त्व दिया गया ह कि 'वाल्मीकि रामायण' में लिखा है—

"सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति याचते।
अभय सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥"

अर्थात् केवल एक बार 'मै शरणागत हू' ऐसा कहने पर मै जीव अभय कर देता हू। ऐसी मेरी प्रतिज्ञा है।'श्रीमद्भगवद्गीता' मे भी भगवान् ने इसी भाव को इस प्रकार प्रतिध्वनित किया है—

"सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि माशुचः॥"

महात्मा कबीर शरणागति या प्रपत्ति के इस महत्त्व से पूर्णतया परिचित थे उन्होने अपने प्रियतम के प्रति पूर्ण आत्म-समर्पण कर दिया था। उन्होने दूसरो को भी यही उपदेश दिया है—

"कहत कबीर सुनहु रे प्रानीं छोड़हु मन के भरमा।
केवल नाम जपहु रे प्रानी परहु एक की सरना॥"

आत्म-समर्पण के भाव की पराकाष्ठा उस समय दिखाई पड़ती है जब वे अपने को राम का गुलाम कहते है और अपना तन-मन-धन उन्हे सौप देते है—

"मै गुलाम मोहि बेचि गुंसाई।
तन मन धन मेरा राम जी के तांई॥"

अपनाव और प्रत्याशा—इस प्रकार आत्म-समर्पण कर देने पर प्रियतमा को प्रियतम अपना लेता है, भ्रमो और कर्मो के बन्धन कट जाते है। प्रियतम बाँह पकडकर अपने समीप बुला लेता है—

"बालपने के करम हमारे काटे जान दई।
बाँह पकरि करि कृपा कीन्हीं आप समीप लई॥"

किन्तु यही पर मिलन नही हो जाता। कबीर भारतीय मर्यादा-वादी संत थे, अत. बिना विवाह के मिलन दिखा भी कैसे सकते थे। अतः विवाह की तैयारी होने लगती है। प्राहपाशा की यह स्थिति वास्तव में बड़ी मधुर होती है, प्रेयसी अपने प्रियतम के लोक एव उसकी अटारियो आदि की विविधरगी कल्पनाओ से विभोर हो उठती है। देखिए वह प्रिय-तम के लोक की मधुर कल्पना से पुलकित है—

"नहरवा हमका नहि भावै ।
साँई की नगरी परम अति सुन्दर जहाँ कोई आवे न जावै ॥"

साँई की नगरी के समान ही उसकी अटारियाँ भी बडी ही भव्य है। प्रियतमा की कल्पना उसे भी देखने के लिए व्याकुल रहती है—

"पिया रे ऊँची अटरिया जरद किनरिया लगी नाम की डोरिया ।
चाँद सुरज सम दियना, बरतु है ता विच भूली डगरिया ॥"

'पिया की ऊँची अटरिया' की कल्पना करते-करते वह प्रेयसी कुछ अधिक रहस्यात्मक हो जाती है और भँवर गुफा की ओर सकेत करने लगती है। भँवर गुफा का जो सुषुम्ना मार्ग है उसे उसने 'झीनी गैल' या 'सूक्ष्म मार्ग' कहा है। कल्पना में ही वह उस झीनी गैल से पिय की अटरिया तक डरते-डरते पहुँचने की चेष्टा करती है। बेचारी मुग्धा होने के कारण वह कुछ देर तो प्रियतम की प्रतीक्षा में सकोच और लज्जा के भार से लदी हुई खडी रहती है किन्तु क्षण-भर में वह आगे बढने का फिर प्रयत्न करती है—

"पिया की ऊँची अटरिया आस रहौ कब लौ खरी ।
ऊँचे नहिं चढ़ि जाय मने लज्जा भरी ।
पाव नहि टहराय चहुँ गिर गिर परु ॥
फिरि-फिरि चढ़हुं सम्हारि चरन आगे धरुँ ।
अंग-अंग ठहराय तो बहु विधि डर रहूँ ॥"

इसी प्रकार कल्पना करते-करते सो जाती है तो क्या देखती है कि प्रियतम पास आ गए है उन्होने उस सोती हुई को जगा दिया। इतने में ही निद्रा भग हो जाती है और वह बेचारी निराश हो जाती है—

"सुनि सखि सुपने की गति ऐसी हर आए हम पास ।
सोवत हो जगाइया जागत भए उदास ॥

मिलन-क्षणों की कल्पनाएँ—इसी अवस्था मे विरहिणी की मिलन क्षणो की कल्पनाएँ भी आती है। वास्तव मे मिलन से मिलन की कल्प-

नाएँ अधिक मधुर होती है। भावुक कबीर इस प्रकार कल्पनाएँ चित्र-रूप में चित्रित किये बिना नही रह सके—

थर-थर कम्पै बाला जीव न जाने क्या करसी पीव।
रैनि गई मति दिन भी जाय भँवर गए बग बैठे आय ॥ इत्यादि

साक्षात्कार की अवस्था—अन्त मे साक्षात्कार और मिलन की स्थिति आती है। साक्षात्कार की अवस्था का वर्णन उपनिषदों मे बडे विस्तार से किया गया है। ये वर्णन दार्शनिक अधिक और साहित्यिक कम है। आत्मा का परमात्मा से साक्षात्कार होता है। हृदय की मोह-ग्रन्थियाँ विदीर्ण हो जाती है, सब सशय निर्मूल हो जाते है और कर्म-जाल नष्ट हो जाता है—

"भिद्यते हृदय ग्रन्थि छिद्यन्ते सर्व संशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥"

उपनिषदो के सदृश कबीर ने भी साधक और साध्य के मिलन होने पर साधक के तापों का नष्ट होना माना है उनका विश्वास था कि साक्षात्कार होते ही साधक का जीवन आनन्दमय हो जाता है—

"हरि संगति शीतल भया मिटी मोह की ताप।
निसि वासर सुख निधि लहा अंतर प्रगटा आप ॥"

किन्तु इस कोटि के वर्णन काव्यात्मक और भावात्मक न होने के कारण रहस्यवादी कम और दार्शनिक अधिक कहे जायँगे।

विवाह और मिलन—कबीर मे साक्षात्कार और मिलन की अवस्था के भावपूर्ण चित्र भी बहुत पाए जाते है। यह चित्र दाम्पत्य प्रतीको पर ही आधारित है। जैसा कि हम अभी कह चुके है कबीर ने दाम्पत्य-प्रतीकों में भी पति-पत्नी के प्रतीकों को ही अधिक अपनाने की चेष्टा की है। वास्तव में इस प्रकार का चुनाव भारतीय संस्कृति के अनुकूल भी था। भारत में सदा से प्रणय क्षेत्र में मर्यादा को विधेय माना गया है।

प्रियतमा और प्रियतम का सम्बन्ध मर्यादा के विरुद्ध माना जाता है। विवाह हो जाने पर यही सम्बन्ध पवित्र हो जाता है। कबीर भारतीय संस्कृति के संरक्षक संत थे। इसीलिए उन्होने मिलन और साक्षात्कार के पूर्व विवाह की योजना दिखाई है। किन्तु यह विवाह साधारण मानवों के विवाह से भिन्न है। आत्मा और परमात्मा का मिलन साधारण हो भी कैसे सकता है। इसीलिए कबीर ने असाधारण विवाह का वर्णन किया है। देखिए निम्न लिखित रूपक मे कबीर ने विवाह के समय का कैसा सुश्लिष्ट चित्र खीचा है। आत्मा रूपी दुलहिन का अपने प्रियतम राम से परिणय होने वाला है। अत अन्य आत्मारूपी सखियाँ मिलनोत्सुक आत्मारूपी दुलहिन से आनन्दित होने के लिए कहती है। आज पति रूप मे राम स्वय ही दुलहिन रूपी आत्मा के घर परिणय हेतु आ पहुँचे है। वे अकेले नही आए है। साथ मे लम्बी-चौडी बरात भी लाए है। तैंतीस करोड़ देवता अठासी सहस्र ऋषि ही बराती है। ब्रह्माजी संस्कार सम्पन्न कराने के लिए पुरोहित बनकर आए है। इससे अधिक दिव्य और असाधारण परिणय हो भी क्या सकता है—

"दुलहिन गावहु मंगलचार
हम घर आए हो राजा. राम भरतार ॥ टेक ॥
तन रति करि मैं मन रत करहुँ पंच तत्त बराती।
रामदेव मोरे पाहुन आये, मैं जोवन मदमाती ॥
सरीर सरोवर वेदी करिहूँ, ब्रह्मा वेद उचार।
रामदेव संगि भावरि लेहूँ धनि धनि भाग हमार ॥
सुर तैतीस कौतिग आए मुनिवर सहस अठासी।
कहै कबीर हम ब्याहि चले है पुरुष एक अविनासी ॥"

विवाह के पश्चात् सुहाग रात आती है। नायिका सोलह श्रृङ्गार करती है—

"किया सिंगार मिलन के ताईं।"

'शृङ्गार' कर लेने पर भी प्रिय के पास सहसा जाने का साहस नही होता। लज्जा और संकोच उसे आगे नही बढने देते।

"पिया मिलन की आस रहौ कबलो खरी।
ऊँचे नाहिं चढ़ि जाय मने लज्जा भरी॥
पाँव नहिं ठहराय चहें गिरि गिरि परूँ।
फिरि फिरि चढ़हुँ सम्हारि चरन आगे धरूँ॥
अंग अंग ठहराय तो बहुविधि डरि रहूँ।
करम कपट मग घेरि तो भ्रम में परि रहूँ॥"

नायिका नवोढा और अज्ञाता है, अत· वह वेचारी मिलन को कठिन जानकर डरती भी है—

"मिलना कठिन है कैसे मिलौगी पिय जाय।
समुझि-सोच पग धरौ जतन से बार-बार डिग जाय॥
ऊँची गैल राह रपटीली पाव नहि ठहराय।
लोक-लाज कुल की मरजादा देखत मन सकुचाय॥
नैहर वास वसा पीहर में लाज तजी नहि जाय।
अधर भूमि जहाँ महल पिया का हम पर चढ़ो न जाय॥"

संकोच करते-करते नायिका अपने प्रियतम तक पहुँच जाती है। प्रियतम तक पहुँचने पर प्रियतम से उसे साक्षात्कार नही हो पाता, उसका घूँघट दोनों के प्रत्यक्ष मिलन मे बाधक है। अतः सखियाँ उस घूँघट को उघाड़ने का उपदेश देती हैं—

"तोको पीव मिलेंगे घूंघट का पट खोल रे।"

अन्त मे घूँघट का पट खुल ही जाता है और प्रियतमा प्रियतम से सुहाग प्राप्त करती है।

"बहुत दिनन थे प्रीतम पाए
भाग बड़े घर बैठे आए॥ टेक॥

"मंगलचार माँहिं मन राखौ राम रसायन रसना चाखौ ।
मन्दिर माँहि भया उजियारा लै सूती अपना पीव पियारा ॥
मैं रनि रासी जे निधि पाई, हमहि कहा यह तुम्हहिं बड़ाई ।
कहै कबीर मैं कछु नहिं कीन्हा, सखी सुहाग राम मोहि दीन्हा ॥"

इस सुहाग के अवसर पर भी कबीर भारतीय संस्कृति की मर्यादा को नही भूले हैं ।

नायिका सुहाग के अवसर पर अपनें प्रियतम के चरणों को पकड़कर प्रेम को शाश्वत बनाने का आग्रह करती है—

"अब तोहि जानि न देहौ राम पियारे ।
ज्यूँ भावै त्यूँ होऊ हमारे ॥ टेक ॥
बहुत दिन के बिछुरे हरि पाए भाग बड़े घर बैठे आये ॥
चरनन लागि करौ बरि आई प्रेम प्रीत राखौ, अरुझाई ।
इत मन मन्दिर रहौ नित चोखे कहै कबीर परहु मत धोखे ॥"

मिलन के मधुर रस का अनुभव कर लेने पर नायिका उस रस के बिना रह ही नही पाती । वह हर समय उससे सुहाग प्राप्त करने के लिए व्याकुल रहती है—

"ये अँखियाँ अलसानी पिय हो सेज चलौ ।
खम्भा पकरि पतंग अस डोले बोले मधुरी बानी ॥
फूलन सेज बिछाय जो राख्यो पिया बिना कुम्हलानी ॥
धीरे पाँव धरो पलँगा पर जागत नन्द जिठानी ।
कहत कबीर सुनो भाई साधो लोक लाज बिछलानी ॥"

सेज पर पहुँच जाने पर भी नायिका स्वय पहले नही मिलती। भारतीय मर्यादा ऐसा ही कहती है । सकोच की पराकाष्ठा तो यह है कि एक ही शैया पर प्रियतम-प्रियतमा विश्राम करते है । किन्तु प्रियतमा प्रियतम से मिलना तो दूर रहा, उसे देखती भी नही है—

"सेजै रहूँ नैन नहीं देखौ,
यह दुःख कासौ कहूँ हो दयाल ॥"

इस प्रकार हम देखते है कि कबीर ने आध्यात्मिक मिलन की अभिव्यक्ति दाम्पत्य-प्रतीको के सहारे कितने सुन्दर ढंग से की है। वास्तव में इन वर्णनों के कारण ही उनका अनुभूतिमूलक रहस्यवाद इतना मधुर मालूम पड़ता है।

तादात्म्य की अवस्था—यहाँ पर एक प्रश्न उठ खड़ा होता है। वह है कि क्या कभी इस मिलन मे पूर्ण तादात्म्य भी स्थापित होता है। इस सम्बन्ध में विद्वानो के दो मत है। कुछ विद्वानों के मतानुसार सूफी रहस्यवादियों को कभी पूर्ण तादात्म्य नही प्राप्त होता। स वर्ग के विद्वानों के मुखिया निकलसन साहब है। इन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ India of Persnality in Surisane में इस मत का सतर्क प्रतिपादन किया है। इसके अतिरिक्त विद्वानों का दूसरा वर्ग पूर्ण तादात्म्य की स्थिति में विश्वास करता है। इसके प्रमाण में वे जलालुद्दीन रूमी की निम्नलिखित पंक्तियाँ उद्धृत करते है। इन पंक्तियों मे तादात्म्य को नीर-क्षीर के दृष्टान्त से स्पष्ट किया गया है—

With thy sweet soul this soul of mine,
Hath mixed as water doeth with wine,
Who can the wine and water part,
Or me and thee when we combine.
Quoted from Joyus Mysticism
Page 182.

अर्थात् तुम्हारी मधुर आत्मा से यह आत्मा इस प्रकार मिल गई है जैसे मदिरा से जल मिल जाता है। मदिरा और जल को अथवा मुझको और तुमको कौन अलग कर सकता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि सूफी रहस्यवादी भी पूर्ण तादात्म्य मे विश्वास करते थे।

भारत में अद्वैतवाद का सदैव ही बोल-बाला रहा है अद्वैतवादी आत्मा और परमात्मा के पूर्ण तादात्म्य में विश्वास करते है । उनके इस विश्वास की अभिव्यक्ति भारत के भावुक रहस्यवादी संत कवियों में भी दिखाई देती है । संत ज्ञानेश्वर ने तादात्म्य की परिस्थिति का चित्र इस प्रकार खीचा है—

When he had entered the santuary his bodily consciousness was lost. His mind was changed to super mind. All sense of boundness than over reason came to a stand still. words were meta morphosed into no words and he saw his own self. His eye lashes ceased to. twinkle distinction between night and day was gone. The whole Universe was a light and was filled with resonance of God was merged in an ocean of bliss and his beautification was effable. [1]

यह वर्णन अद्वैती होते हुए भी भक्त और भगवान् के सम्बन्ध को बनाए हुए है । भारतीय रहस्यवादी ऐसे ही तादात्म्य में विश्वास करते है। महात्मा कबीर ने भी तादात्म्य के जो वर्णन प्रस्तुत किये है वे बहुत कुछ इसी ढंग के है । निम्नलिखित साखियो से उनका तादात्म्य का सिद्धान्त पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है साधक और साध्य में बूँद और समुद्र-जैसा सम्बन्ध है जिस प्रकार बूँद समुद्र मे जाकर समुद्र रूप हो जाती है और फिर उसके अलग अस्तित्व को खोजना कठिन हो जाता है उसी प्रकार भक्त अपने व्यक्तित्व को भगवान् मे इस प्रकार मिला देता

हेरत हेरत हे सखी रहा कबीर हिराय ।
बुंद समानी समुद्र में सोकत हेरी जाय ॥

1 'Mysticism in Maharastra Preface' Page 12.

है कि फिर दोनो मे कोई भेद नही रह जाता है। इसी बात को ध्यान में रखकर अंडरहिल ने लिखा है कि रहस्यवाद वास्तव में व्यक्तित्व का लोप करता है—

"Mysticism indeed implies the abolition of individuality."

महात्मा कबीर में तादात्म्य के भावात्मक वर्णन भी पाए जाते है। जब प्रियतम और प्रियतमा मिल जाते है तब फिर कोई भेद नही रह जाता, यदि प्रियतम मरेंगे तो फिर प्रियतमा भी मरेगी अन्यथा वह भी उसी के समान अमर रहेगी—

"हरि मरिहै तो हमहुँ मरिहैं।
हरि न मरैं तो हम काहे को मरिहैं ॥"

हरि तो अमर और शाश्वत रूप है, फिर भला प्रियतमा ही क्यों मरेगी। इसीलिए वह कहती है—

"हम न मरैं मरिहै संसारा।
मिला हमहि को जियावन हारा ॥"

इस प्रकार स्पष्ट है कि कबीर पूर्ण तादात्म्य में विश्वास करते थे। उनका यह तादात्म्य तात्विक दृष्टि से पूर्ण अद्वैती था किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से उनमे भगवान् और भक्त के सम्बन्ध बने रहने की ध्वनि निकलती है। वे कहते है कि राम और कबीर भक्त और भगवान् जब एक हो जाते है तब उन्हे कोई पहचान नहीं पाता। उनका भेद दूसरों को स्पष्ट नहीं हो पाता। उनमे जो भेद रहता है उसे केवल भगवान् और भक्त ही जानते है—

"राम कबीरा एक भए हैं कोउ न सकै पछाड़ि।"

सत्य की अखण्ड अनुभूति—यहाँ पर एक प्रश्न और विचारणीय है, वह यह कि क्या कबीर को सत्य के सौन्दर्य की सम्पूर्णता में अनुभूति

---

१. Mysticism underhill. Page 85

हुई थी या वे उसके किसी एक पक्ष का दर्शन करके रह गए थे।

कबीर की रहस्यानुभूति का मनोयोग से अध्ययन करने पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि उन्होंने सम्पूर्ण सत्य की सम्पूर्ण भावात्मक झाँकी देखी थी। उन्होंने स्वयं भी स्वीकार किया है कि उनका 'परचा' पूरे से हुआ था—

"पूरे सू परच्या भया सब दुख मेल्या दूरि।
निर्मल कीन्हीं आत्मा ताथे सदा हजूरि॥"

सत्य.के सम्पूर्ण सौन्दर्य को देखकर ऐंसा स्वाभाविक है कि मौनता आ जाय। कबीर ने उसके दर्शन सम्पूर्णता में किये थे, किन्तु उसकी वर्णना मे वे सर्वथा असमर्थ थे—

"दीठा है तो कस कहूँ कह्या न कोउ पतियाय।
हरि जैसा है तैसा रहौ तू हरिखि हरषिं गुन गाइ॥"

वास्तव मे वह पूर्ण अद्भुत अनिर्वचनीय ही है। वेद और कुरान भी उसकी अनुभूति का रहस्य नही बता सकते; अतः यदि कबीर उसका कुछ वर्णन भी करें तो किसी को विश्वास ही नही होगा—

"ऐसा अद्भुत जिनि कथै, अद्भुत राखि लुकाय।
वेद कुरानों गमि नहीं कह्या न को पतियाइ॥"

यदि उसका किसी प्रकार वर्णन करने का प्रयत्न भी किया जाय तो उसके तेज का कथन-मात्र किया जा सकता है। वह सैकड़ों सूर्यों की ज्योति से भी विलक्षण होता है—

"कबिरा तेज अनन्त का मानों ऊगी सूरजसेणि।
पति सँग जागी सुन्दरी कौतिक दीठातेणि॥"

साधक को जब रहस्य की अनुभूति अपनी सम्पूर्णता में होती है तब फिर वह उसका वर्णन किमी एक ही ऐन्द्रिक अनुभूति के माध्यम से नही करता। वह अपनी रहस्यानुभूति की सम्पूर्णता व्यक्त करने के लिए लिए सभी प्रकार की ऐन्द्रिक अनुभूतियों का आश्रय लेता है। कभी तो

स्पर्शेन्द्रिय से सम्बन्धित उक्तियों की भी कमी कबीर में नही है। मिलन के चित्रों में स्पर्शमूलक अनुभूतियो का विचित्र आकर्षण भरा है। भेंटने का यह एक छोटा-सा चित्र देखिए—

"*अंक भरे भर भेंटिया मन में नाहीं धीर।*
कहै कबीर ते क्यूँ मिले जबलग नोइ सरीर॥"

इसी प्रकार 'ले सूती अपना पीव पियारा' में भी स्पर्शजनित रहस्यानुभूति का ही कथन है। कबीर ने अपने प्रियतम की अनुभूति रस रूप में भी की थी। उनके राम-रसायन की चर्चा हम पीछे बड़े विस्तार से कर चुके है। अब गगन-मण्डल के अमृत और बंक नालि के रस को भी पीकर देखिए—

"(i) *अवधू गगनमण्डल घर कीजै।*
(ii) *अमृत झरै सदा सुख उपजै बंक नाली रस पीजै॥*
(iii) *अवधू मेरा मन मतिवारा।*
उन्मनि चढ्या गगन रस पीजै त्रिभुवन भया उजियारा॥"

कबीर की रूप-सम्बन्धी अनुभूतियाँ भी बड़ी ही मधुर है। उन्होने मानव रूप में प्रियतम की अनुभूति कम की थी। वे अधिकतर उसके दर्शन ज्योतिरूप में करते थे या लालिमा रूप में इनके उदाहरण दूसरे प्रसंगो में दिये जा चुके है। यहाँ मै इतना ही कहना चाहता हूँ कि महात्मा कबीर ने अपने प्रियतम की अनुभूति सम्पूर्णता में की थी। इसीलिए उन्होंने सभी ऐन्द्रिक विषयों के माध्यम से उसकी अनुभूतियाँ व्यक्त की है।

: ३ :

यौगिक रहस्यवाद

आत्म दर्शन में योग—बृहदारण्यकोपनिषद् के मैत्रेयी ब्राह्मण में आत्म साक्षात्कार के साधनो का उल्लेख करते हुए कहा गया है—

"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः"

अर्थात् आत्मा का ही दर्शन श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिए। इस उद्धरण मे श्रवण और मनन के सदृश निदिध्यासन को भी आत्म-साक्षात्कार का साधन माना गया है। निदिध्यासन ध्यान का पर्यायवाची कहा जा सकता है। यह भव्य योग-भवन का सप्तम सोपान है। इससे स्पष्ट है कि आत्म-साक्षात्कार के साधनो में योग का बहुत बड़ा महत्त्व है। इसका उल्लेख 'ऋग्वेद संहिता' तक मे किया गया है। उसमे एक स्थल पर उसका वर्णन इस प्रकार मिलता है—

"स घानो योग आभुवत सा रायेस
पुरं ध्याम् गमद वाजेभिरास नः।"

अर्थात् परमात्मा हमारी समाधि के निमित्त अभिमुख हो, वह विवेक ख्याति रूपी धन तथा अतीतानागतादि अनन्त वस्तु-विषयक होने से ब विधि बुद्धि ऋतम्भरा के उत्पादन निमित्त अनुकूल हो। इस प्रकार स्पष्ट है कि अध्यात्म क्षेत्र में योग की मान्यता सदा से रही है। योग का लक्ष्य भी वही होता है जो रहस्यवाद भक्ति आदि अन्य साधनों का। 'योग वाशिष्ठ' में लिखा है कि आत्मा और परमात्मा को मिलाने वाला साधन योग कहलाता है। योग के चार प्रमुख भेद माने गए है—

योग के विविध भेद — (१) हठयोग, (२) राजयोग, (३) लय-योग, (४) मन्त्रयोग। इन सबसे प्राचीन अध्यात्मयोग है। 'कठोपनिषद्' में इसका सब प्रकार वर्णन किया गया है—

"तं दुर्दर्शं गूढमनु प्रविष्टं।
गुहाहितं गह्वरेष्ठ पुराणम् ॥
अध्यात्म योगाधिगमेन देवं।
मत्वा धीरो हर्ष शोकौ जहाति ॥"

अर्थात् वह आत्मा जो इतना तेजस्वी है कि देखा नही जा सकता, गहन स्थान में प्रवेश किये हुए है; गुहा में बैठा हुआ और गह्वर में रहने वाला उसे अध्यात्म योग के द्वारा जानना चाहिए। यदि रहस्यवाद की अन्तर्मुखी प्रक्रिया से इसकी तुलना करे तो तुरन्त स्पष्ट हो जायगा कि वास्तव में अध्यात्मयोग एक प्रकार का अन्तर्मुखी रहस्यवाद है। रहस्यवाद का लक्ष्य भी इसी प्रकार सगुण और निर्गुण रूप देव के साथ एकाकार प्राप्त करना होता है। उपर्युक्त चारों प्रकार के योग वास्तव में उस *'गुहाहितं गह्वरेष्ठ देवं'* तक पहुँचने के चार प्रकार के शरीर, मन, बुद्धि और प्राणमूलक साधन है। हठयोग विशेष रूप से शरीर-साधना है। लययोग का सम्बन्ध विशेष रूप से मन से है। मंत्रयोग में बुद्धि की क्रिया प्रधान रहती है राजयोग वास्तव मे प्राण साधना का समन्वित रूप है। योगी इनकी साधना व्यष्टि रूप से भी करते है और समष्टि रूप से भी। 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' में इन सब समष्टिमूलक साधनाओं पर विशेष जोर दिया गया है। उसमे इस प्रकार लिखा है—

"त्रिरुन्नत स्थाप्य समं शरीरं।
हृदीन्द्रियाणि मनसा सन्निरुध्य ॥
ब्रह्मोदुपेन प्रतरेत विद्वान्।
स्त्रोतासि सर्वाणि भया वहानि ॥

प्राणान प्रपीड्येह सयुक्त चेष्टः ।
क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत् ॥
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमभेन ।
विद्वान् मनो धारयताप्रमत्तः ॥"

अर्थात शरीर को त्रिरुन्नत अर्थात् छाती गरदन और सिर उन्नत और सम करके मन सहित इन्द्रियो को हृदय म नियत करके ब्रह्म रूप नौका से विद्वान् सब भयानक प्रवाहो को तर जाय। इस शरीर में प्राणों का अच्छी तरह निरोध करके युक्तचेष्ट हो और प्राण के क्षीण होने पर नासिका द्वारो से स्वास छोडे और इन दुष्ट घोडों की लगाम मन का विद्वान् अप्रमत्त होकर धारण करे। ध्यान योग के सहारे से अत्यन्त गूढ़-सा जो आत्मा है उसे देखे। उपनिषद् के इस यौगिक वर्णन में रहस्यवाद का भी पुट है। जब ूढ़ यौगिक प्रक्रियाओ का वर्णन हम काव्यात्मक शैली में रोचक एवं चित्रात्मक ंग से करते है तभी वे शुष्क यौगिक प्रक्रियाएँ साधनात्मक रहस्यवाद का रूप धारण कर लेती है। वर्णनात्मक शैली मे लिखी गई यौगिक बाते रहस्यवाद नही मानी जा जा सकती। वे कोरी योग-साधना की निधि मानी जायँगी। उपर्युक्त पाँच प्रकार के योग स्वरूपों का यहाँ पर यत्किञ्चित् निर्देश कर देना आवश्यक है सबसे प्रथम हठ योग आता है।

हठयोग और कबीर—हठयोग का साहित्य बडा विशाल है। इसका वर्णन योग-ग्रन्थों और तन्त्र-ग्रंथों में तो बिस्तार से हुआ ही है। अन्य धर्म-ग्रन्थों में भी इसके विस्तृत वर्णन मिलते है। इसकी सैकड़ों शाखाएँ प्रशाखाएँ सैकड़ों प्रकार की प्रक्रियाएँ है। उन सबका विस्तार से उल्लेख करना कठिन ही नही असम्भव भी है। अतः हम यहाँ पर हठयोग की उन्हीं बातों का संकेत करेंगे जिनको लेकर कबीर ने अपना साधनात्मक रहस्यवाद खड़ा किया है। हठ योग बहुत प्राचीन है। कहते हैं इसके आदि पुरस्कर्त्ता मार्कण्डेय ऋषि थे। मध्ययुग में मत्स्येन्द्रनाथ

और गारखनाथ ने इस योग-शास्त्र का फिर से पुनरुद्धार किया और इसकी प्रतिष्ठा अपने ढंग पर की। इसीलिए हठयोग दो प्रकार का माना जाता है—

"द्विधा हठः स्यादेकस्तु गोरक्षादि सुसाधकैः।
अन्योमृकण्ड पुत्राद्यैः साधि तो हठ संज्ञकः॥"

अर्थात् हठयोग दो प्रकार का होता है, एक तो गोरक्ष आदि साधकों के द्वारा प्रवर्त्तित किया हुआ और दूसरा वह जिसको मृकण्ड आदि के पुत्रो ने प्रतिष्ठित किया था। महात्मा कबीर गोरक्षक आदि साधकों को हठयोग से प्रभावित हुए थे, क्योकि इनकी परम्परा से इनका पूर सम्बन्ध था। इस नवीन मत्स्येन्द्रनाथी हठयोग का विवेचन गोरक्ष हता, गोरक्ष सिद्धान्त सग्रह, सिद्ध सिद्धान्त पद्धति, सिद्ध सिद्धान्त सग्रह, घेरण्ड सहिता हठयोग दीपिका आदि प्रन्थो में विस्तार से किया गया है। इनके अतिरिक्त इसका वर्णन तंत्र ग्रथो और बौद्ध धर्म के ग्रंथो मे भी हुआ। तान्त्रिको और बौद्धो मे पहुँचकर इसने बहुत अधिक विकास किया। विकसित होते-होते यह इतना जटिल हो गया कि स्वय रहस्यमय बन गया। महर्षि मार्कण्डेय अष्टाग योग को ही हठयोग मानते थे। किन्तु गोरक्षोपदिष्ट हठयोग के केवल ६ अग माने गए है।-यम और नियम हठयोग के अन्तर्गत नही लिये गए है। हठयोम का सबसे प्रमुख विषय है नाड़ी-जय; इसका विकसित रूप कुण्डलिनी शक्ति योग-तंत्र ग्रंथो मे इसका बड़े विस्तार से विचार किया गया है। कबीर नाथो, सिद्धो और तांत्रिकों से एक समान प्रभावित थे। अतः इनमें नाड़ी जय और कुण्डलनीशक्तियोग शादि की सूक्ष्मातिसूक्ष्म बात मिलती है। इनको इन्होने कल्पना, आलंकारिकता और चित्रात्मकता के सहारे रहस्यमय बना दिया है। कुण्डलिनी शक्ति-योग में सबसे रहस्यपूर्ण वर्णन चक्रो के है। हठयोगी प्रायः ६ चक्र ही मानते है, किन्तु तंत्र ग्रन्थो में ११ चक्रों तर्क की कल्पना की गई है। महात्मा कबीर ने इन चक्रो का

बड़े ही रहस्यात्मक ढंग से बार-बार उल्लेख किया है। अतः अत्यन्त संक्षेप में हम यहाँ इन चक्रों और उनकी रहस्यात्मकता का परिचय देना आवश्यक समझते है। चक्रों के रहस्य को समझने के लिए नाडियों की भी चर्चा कर देना आवश्यक है, क्योंकि शरीर की प्रमुख नाड़ियाँ ही इन चक्रों को बाँधे हुए है, इन चक्रों से सम्बन्धित सबसे प्रमुख नाड़ियाँ इड़ा, पिंगला और सुषम्ना है। इडा और पिगला सुषम्ना नाड़ी को लपेटे रहती है; इड़ा बाईं ओर होती है उसका वर्ण शुभ्र होता है। पिंगला सुषम्ना के दाहिनी ओर होती है। यह रक्त वर्ण की होती है। इड़ा को अमृतविग्रहा और पिंगला को रौद्रात्मिका मानते ह। सुषम्ना के मध्य भाग में वज्रा नाड़ी मानी है वज्रा के मध्य मे चित्रा नाडी अन्तर्निहित रहती है। इस चित्रा के मध्य में ब्रह्म नाड़ी होती है। सुषम्ना नाडी अग्नि स्वरूपा मानी जाती है। वज्रा सूर्य रूपा कही गई है। चित्रा पूर्ण चन्द्र-मण्डल रूपा होती है। चित्रा नाड़ी ब्रह्म द्वार कहलाती है। क्योकि कुण्डलिनी शक्ति इसीमें से होकर ऊर्ध्वगामिनी होती है। सुषम्ना मे कुण्डलिनी तब प्रवेश करती है जब इड़ा और पिंगला समगति से चलती है। योगी का लक्ष्य कुण्डलिनी शक्ति को सुषम्ना के बीच से चक्रों का भेदन करते हुए सहस्रार कमल तक ले जाना होता है। जब कुण्डलिनी सहस्रार में पहुँच जाती है तब साधक को समाधि की स्थिति प्राप्त हो जाती है। इस समाधि की अवस्था को प्राप्त करने के पश्चात् योगी अमर हो जाता है। अब थोड़ा-सा चक्रों पर प्रकाश डाल देना चाहते है।

पहला चक्र मूलाधार के नाम से प्रसिद्ध है। यह पृथ्वी-तत्त्व का दर्शक माना जाता है। इसमें चार दल होते है। ब्रह्मदेव इसके देवता है। उपर्युक्त चार दल प्राण-शक्ति के सहारे उत्पन्न होते है। इन्हीं म कुण्डलिनी प्रसूत रहती हैं। इन दलों पर जो अक्षर है वे कुण्डलिनी को आकृति प्रदान करते है। कुण्डलिनी इसी चक्र के नीचे त्रिकोणात्मक रूप में स्वयं लिंग से साडे तीन वलयों में आवर्तित सुप्तावस्था में पड़ी रहती

है। कुण्डली द्वारा निर्मित इस त्रिकोण को त्रिपुर कहते हैं। जो योगी इस मूलाधार चक्र की साधना मे सफल होता है उसे वाक् सिद्धि प्राप्त होती है। शिव संहिता मे स्पष्ट लिखा है—

"यः करोति सदा ध्यानं मूलाधारे विचक्षणः।
तस्य स्याद्दुर्दुरी सिद्धिर्भूमी त्याग क्रमेणावै॥"

दूसरा स्वाधिष्ठान चक्र है। इस चक्र का रंग रक्तवर्ण माना जाता है। इसमे ६ दल माने गए है। ब भ म य र ल उनके सकेत अक्षर हैं। इस चक्र की स्वामिनी शाकिनी देवी मानी गई है। इसके देवता विष्णु है। तीसरा चक्र मणिपुर के नाम से प्रसिद्ध है। इसका रंग सुनहला होता है इसमें दस दल होते है। उन दलों के संकेताक्षर ड ढ ण त थ द ध न प फ माने गए है। इसके देवता रुद्र है। इसकी अधिष्ठात्री देवी का नाम लाँकिनी है। इस चक्र की साधना सफल होने पर पाताल नामक सिद्धि मिलती है वह सर्वगतिमय हो जाता है इसके बाद हृत्पद्म या अनाहत चक्र आता है। यह हृदय स्थल में स्थित रहता है। इसमें बारह दल होते हैं। इसका वर्ण रक्त होता है। विश्वसार तन्त्र के अनुसार इस स्थान में उत्पन्न होने वाली अनाहत ध्वनि ही शिव रूप है। यही जीवात्मा का वास-स्थान माना गया है। इसकी साधना में सफलता प्राप्त करने पर साधक को खेचरी शक्ति मिलती है। इसके बाद कठ पद्म या विशुद्धि चक्र है इसमे सोलह दल होते है। इसके देवता अर्ध-नारी नरेश्वर है। इस चक्र का कुछ अंश शुभ्र होता है और कुछ स्वर्णिम रंग का छठा चक्र आज्ञा चक्र है। इसमें दो दल होते हैं इसका रग श्वेत है इसके दोनों ओर इड़ा और पिंगला है। वही मानो वरुणा और असी है। इसीलिए योगियो में यह स्थान वाराणसी के नाम से प्रसिद्ध है इसके देवता विश्वनाथ माने गए है। कहते हैं आज्ञाचक्र के त्रिकोण मे अग्नि सूर्य और चन्द्र तत्त्व रहते है। अव्यक्त प्रणवरूपी आत्मा का भी यही स्थान माना जाता है। इन सब के बाद

सहस्रार चक्र आता है इसमें एक हजार दल माने गए है। कहते है इसमें २० विवर होते है। इनमें पचास-पचास मातृकाएँ मानी जाती है। इस प्रकार सहस्र दल हो जाते हैं। इस सहस्रार कमल का स्थान तालुमूल माना जाता है। इस तालुमूल में सुषुम्ना नाडी ने अधोमुखी होकर गमन किया है। यह कमल शुभ्रवर्ण तथा कुछ अरुण रक्तवर्ण माना जाता है। इसे लोग अधोमुखी भी बतलाते है। इस सहस्रार कमल के कन्द देश में एक पश्चिमोन्मुख त्रिकोण-सा है। इस त्रिकोण मे ब्रह्म-विवर सहित सुषुम्ना मूल है। इस स्थान से मूलाधार पर्यन्त जो विवर है वही ब्रह्मरन्ध्र है। इसमे ६ छोटे छि होतें हैं। इस रन्ध्र का रूप विन्दु ० के सदृश है। इसी ब्रह्मरन्ध्र को दशम द्वार भी कहते है। इस ब्रह्म-रन्ध्र की साधना करने वाला ब्रह्मरूप हो जाता है।

इन षट्चक्रो के अतिरिक्त तन्त्र ग्रंथों में कई और चक्रों की भी चर्चा की गई है। आज्ञा चक्र के समीप एक मनः चक्र की कल्पना की गई है। उसमें ६ दल है। मनःचक्र के ऊपर एक सोम चक्र बताया जाता है उसके १६ दल बताए जाते है। आज्ञा चक्र के समीप ही कारण शरीर से सम्बन्धित सात कोष है। इनके नाम क्रमशः इन्दु, बोधिनी, नाद, अर्धचन्द्रिका, महानाद, कला और उन्मनी हैं। कहते है इस उन्मनी कोष में पहुँचने पर पुनरावृत्ति नही होती है। शक्ति-सम्मोहन तत्र में ९ चक्रों का उल्लेख किया गया है। किन्तु वे इनसे सर्वथा भिन्न है। उनके नाम क्रमशः सर्वानन्दमय सर्वसिद्धि चक्र, सर्वरोगहर चक्र, सर्वरक्षाकार चक्र, सर्वार्थ साधक चक्र, सार्वभौम भाग्यदायक चक्र, सर्व सक्षोभणी चक्र, सर्वाशा परिपूर्ण चक्र और त्रैलोक्य मोहन तन्त्र हैं। महानिर्वाण तंत्र में चक्र तो नौ ही माने है, किन्तु उनके आकार और नाम इनसे सर्वथा भिन्न है। कुछ लोगों ने नौ चक्रों के अन्तर्गत ऊपर कथित षट्चक्रों के अतिरिक्त श्री हाटगोल्लाट और त्रिकूट चक्र और माने है। हठयोग के अन्तर्गत विविध प्रकार के चक्रो के बड़े जटिल वर्णन आते है।

महात्मा कबीर पर हठयोग की चक्रभेदन प्रक्रिया अथवा कुण्डलिनी-उत्पादन प्रक्रिया का पूरा-पूरा प्रभाव पडा था। उन्होंने चक्रों के बड़े ही रहस्यात्मक वर्णन प्रस्तुत किये है। इनकी रचनाओ में इनके वर्णन भरे पडे है। देखिए निम्नलिखित अवतरण मे उन्होने 'ऐसे मन के मोहन बीठुला' का वर्णन किया है, जो षट्दल कमल निवासी है—

"मन के मोहन बीठुला यह मन लागो तोहिं रे।
चरन कवल मन मांनिया और न भावै मोहि रे॥
षटदल कमल निवासिया चहुँ कोफेरि मिलाइरे"

इसके आगे वे अष्टदल कँवल निवासी श्री रग जी का वर्णन करते है—

"दहु के बीच समाधियॉ, तहाँ काल न पासै आइ रे।
अष्ट कंवल दल भीतरा, तह श्रीरंग केलि कराय रे॥"

इन पक्तियों के आगे ब्रह्म रन्ध्र का सूक्ष्म वर्णन किया गया है—

"बकि मालि के अंतरे पछिम दिसा की बाट रे।
नीझर झरै रस पीजिए तह भवर गुफा के घाट रे॥"

ऊपर अभी हम जिस पश्चिमाभिमुख योनि-मण्डल का उल्लेख कर चुके है इन पक्तियो में उन्हीका रहस्यात्मक चित्रण किया गया है। इस ब्रह्म-रन्ध्र मे योगी को जिन रहस्यात्मक दृश्यो और स्वर-लहरियों का आभास मिलता है नीचे लिखी पंक्तियों मे उनका रोचक चित्र खीचा गया है—

"गगन गरज मघ जोइए तँह दीसै तार अनन्त रे।
बिजुरी चमकि घन बरषि है वह भजित है सब सन्त रे॥'

महात्मा कबीर ने ब्रह्मरन्ध्र मे अनुभूत होने वाली विचित्र-विचित्र स्वर-लहरियो तथा लोकातीत दृश्यो का सैकडो प्रकार से वर्णन किया है। यहाँ पर उनमें से कुछ का निर्देश कर देना आवश्यक है। उनके 'परचा' के अंग मे इस प्रकार के वर्णनो की भरमार है। कभी तो वे

'कमल जो फूले जलह' बन' *'देखा चन्द विहूणा चादणा'* जैसे विभावनात्मक दृश्य देखते है और कभी प्रियतम के महल में विश्राम करते हैं—

"मुनि जन महल न पावई, तहाँ किया विश्राम ।"

इस ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचकर केवल नेत्रेन्द्रिय ही तृप्त नही होती वरन् सुन्न मे स्नान करके उनके शरीर को भी संतोष मिलता है—

(i) *"हद-छाड़ि बेहद गया किया सुन्न असनान ।*

(ii) *जेहि सर घड़ा न डूबता मैगल मलि-मलि न्हाय ।"*

यहाँ आकर साधक की रस-सम्बन्धी पिपासा भी शान्त हो जाती है क्योंकि यहाँ अमृत झरता रहता है—

(i) *"गरजि गगन अमृत चुवै*

(ii) *अमृत बरिसै हीरा निंपजैं ।"*

साधक यहाँ अनहद दनाद तथा अन्यान्य मधुर स्वर-लहरियाँ भी सुनता है—

(i) *'अनहद बाजै नीझर झरैं ।'*

इस प्रकार ब्रह्म-रन्ध्र के रहस्यो को कबीर ने विविध प्रकार की ऐन्द्रिक अनुभूतियों के सहारे उद्घाटित किया है। सहस्रार चक्र का वर्णन भी कबीर ने रूपकात्मक शैली में किया है। हम ऊपर बता चुके हैं कि सहस्रार अधोमुखी होता है। कबीर ने उसका वर्णन देखिए कितने रहस्यात्मक ंग से किया हैं—

"आकासे मुखि औंधा कुँवा पाताले पनिहार ।
ताका पाणी को हँसा पीवै विरला आदि विचार ॥"

हमने अभी जिस सुषुम्ना मार्ग की चर्चा नाड़ियों के प्रसंग में ऊपर की है कबीर ने उसके भी रहस्यात्मक वर्णन लिखे हैं। 'सूषिम मारग' के अग में उन्होंने इसीका रूपकात्मक शैली मे वर्णन किया है। वे लिखते है—

(i) "*जन कबीर का सिखर घर बाट सलैली सैल।*
पाँय न टिकैं पिपीलिका लोंगन लादै बैल ॥"

(ii) "*जहाँ न चीटी चढ़ि सकै और न राई ठहराय।*
मन पवन का गम नहिं तहँ कबीर पहुँचे जाय ॥"

(iii) "*कबीर मारग अगम है सब मुनि जन बैठे थाकि।*
तहाँ कबीरा चल गया गहि सद्गुरु को साखि ॥"

सुषुम्ना का वर्णन कबीर ने चक्रो के प्रसंग में भी किया है। देखिए नीचे द्वादस कमल की ओर संकेत करते हुए वे सुषुम्ना का उल्लेख भी करते है—

"*द्वादस कूवा एक बन माली उलटा नीर चलावै।*
सहजि सुषुम्ना कूल भरावै दह दिसि वाड़ी पावै ॥"

इसमे सिंचाई की प्रक्रिया का अच्छा रूपक बाँधा गया है। इन पंक्तियों मे इस रूपक के कारण ही रहस्यवाद की व्यञ्जना हो गई है। यहाँ पर हम एक बार फिर दोहरा देना चाहते है कि वे ही यौगिक वर्णन साधनात्मक रहस्यवाद के अंतर्गत आयेंगे जिनकी अभिव्यक्ति मे काव्यात्मकता के कारण कोई वैचित्र्य और चमत्कार दिखाई पड़ता है। चन्द और सूर को जोडकर देखिए वे कितनी सुन्दर सुषुम्ना तत्री तैयार कर लेते है—

"*चंद सूर दोई तूबा करिहौं चित चेतनि की डाँडी।*
सुषुम्ना तंती बाजण लागी इहि विधि त्रिष्णा षाडी ॥"

कबीर ने सुषुम्ना की स्त्री रूप मे भी कल्पना की है। ऐसे स्थलों पर मानवीकरण अलकार माना जा सकता है। जब साधक नाभि कमल में पहुँचकर अपने प्रियतम भगवान् को खोज लेता है तभी सोलहों कलाओं से चन्द्र प्रकाशित हो उठता है। अनहद नाद की मधुर स्वर-लहरी बज उठती है और सुषुम्ना के घर आनन्द मनाया जाने लगता है—

"*जब लग नाभि कँवल नहीं सोधै।*
तो हीरा हीरै कैसे बेधै ॥"

सोलह कला सम्पूरण छाजा ।
अनहद के घरि बाजैं बाजा ॥
सुषमन के घर भया अनन्दा ।
उलटि कँवल भेंटे गोविन्दा ॥"

यहाँ इस प्रसग में हम कबीर के अत्यत रहस्यमय 'प्रेम भगति हिंडोलने' को नही भुला सकते । चंद और सूर उस हिंडोलने के दो खम्मे है। 'बकनालि' उसकी डोरी है । वह हिडोलना '*द्वादस गम के अन्तरा*' पड़ा हुआ है । वहाँ अमृतत्व की मोक्षदायिनी स्रोतस्वनी प्रवहमान रहती है। 'सहज सुनि' इसके समीप है इसके ऊपर गगन-मण्डल है—

"प्रेम भगति हिंडोलना सब संतनि को विश्राम ॥
चन्द सूर दुई खम्भवा बंक नालि की डोरि ॥
झूले पञ्च पियारिया तहँ झूलै जीय मोर ।
द्वादस गम के अन्तरा तहँ अमृत का वास ॥
जिनि यह अमृत चाखियाँ सो ठाकुर हम दास ।
सहज सुनि को नेहरो गगन मंडलि सिरमौर ॥"

इसमें चन्द्र तो सहस्रार मे स्थित अमृत स्थान के लिए प्रयुक्त हुआ। सूर मूलाधार में स्थित अमृत भक्षक कुण्डलिनी के त्रिकोण का प्रतीक है। बंक नालि उन दोनो को जोड़ने वाली सुषुम्ना नाडी है। 'द्वादश दलकँवल अनाहत'—का वाचक है। गगन-मण्डल का प्रयोग अधोमुखी सहस्रार के लिए किया गया है। 'सहज सुनि' ब्रह्मरन्ध्र का द्योतक माना जा सकता है। इस प्रकार कबीर ने शुष्क यौगिक बातो को रूपकात्मक और प्रतीकात्मक शैली द्वारा वर्णित करके उन्हे अत्यन्त रहस्यपूर्ण बना दिया है।

हमने ऊपर आज्ञाचक्र के समीपस्थ उन्मनी कोष की चर्चा की है। कबीर ने उसका अनेक बार विविध प्रकार से प्रयोग किया है। इस उन्मनी कोष म पहुँचकर साधक की समाधि लग जाती है और वह

अजर अमर हो जाता है। कबीर ने इस उन्मनी कोष को अपने घट के भीतर खोज लिया था। यही पर यह अपना ध्यान केन्द्रित करते थे। यह बात निम्नलिखित पंक्तियों से प्रकट है। 'उन्मनीध्यान घट भीतर पाया' इस उन्मनी अवस्था में साधक अमृत-पान करता रहता है—

"अवधू मेरा मन मतिवारा।
उन्मनि चढ्या गगन रस पीवै, त्रिभुवन भया उजियारा ॥ टेक ॥"

चक्रों, सुषुम्ना और उन्मनि कोष आदि के रहस्यात्मक वर्णनों के साथ-साथ योगी कबीर ने इला, पिंगला और त्रिकुटि आदि के रहस्यात्मक वर्णन भी किये हैं। इला पिंगला की भाटी बनाकर उसमें वे ब्रह्माग्नि प्रज्वलित करके अमृत की धार चुवाते हैं—

"इला पिंगला भाटी कीन्ही ब्रह्म अगिनि पर जारी।
उलटी गंग नीर बहि आया अमृत धार चुवाई ॥"

इसी प्रकार त्रिकुटी के भी रहस्यमय वर्णन मिलते हैं—

(i) *"गगन ज्योति तह त्रिकुटी सन्धि,*
रवि ससि पवना मैलौ बंधि।"

(ii) *"जब लगि त्रिकुटी सन्धि न जानै,*
ससि हर के घर सूर न आनै।
जब लगि नाभि कँवल नहि सोधै,
तो हरि हीरा कैसे बेधै।"

त्रिकुटी पर त्रिवेणी की कल्पना भी बहुत लोक-प्रसिद्ध है। कबीर ने इस कल्पना की भी कई स्थानो पर अभिव्यक्ति की है—

(i) *"त्रिवेणी करे मन मंजन।*
जन कबीर प्रभू अलख निरञ्जन ॥"

(ii) *"त्रिवेणी म्हं न्हवाइए सुरति मिलै जो हाथिरे।"*

कबीर ने कुण्डलिनी के भी भावपूर्ण एवं रहस्यपूर्ण वर्णन लिखे है। कहीं पर उन्होने उसे नागिन कहा है और कहीं पर सर्पिणी; इस प्रकार

के अभिधान उन्होंने हठयोग-प्रदीपिका के अनुकरण पर दिये है। उसमें लिखा है—

"कुटिलांगी कुण्डलिनी भुजंगी शक्तिरीश्वरी।
कुण्डल्यरुन्धती चेत शब्दा पर्यायवाचकाः।"

कबीर ने इस सर्पिणी की महिमा को देखिए कितने भावात्मक ढग से वर्णन किया है। कुछ लोग इसे माया का रहस्यात्मक वर्णन भी मानते हैं—

"सर्पनी ते ऊपर नहिं बलिया,
जिन ब्रह्मा विष्णु महादेव छलिया
मारु मारु सर्पनी निर्मल जल पईठी,
जिनि त्रिभुवन खे गुरु प्रसाद दीठी
सर्पनी, सर्पनी क्या कहहु भाई,
जिन साचु पछान्या तिनि सर्पनी खाई
सर्पनी ते आन छूछ नहिं अवरा,
सर्पनी जीती कहा करे जमरा।"

किन्तु एक दूसरे स्थल पर इन्होने इसका सकेत नागिन के अभिधान से किया है—

"सोवत नागिन जागी"

इससे यह भी स्पष्ट है कि वे सुप्ता नागिनी चालित करने में भी विश्वास करते थे।[१] इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर ने गूढ और जटिल हठयौगिक बातें काव्यात्मक और भावात्मक शैली मे रहस्यात्मक ढंग से अभिव्यक्त की हैं। सक्षेप मे उनकी हठयोग साधना से सम्बन्धित रहस्यवाद का स्वरूप यही है। अब हम उनके लय यौगिक साधना से सम्बन्धित रहस्याभिव्यक्ति पर प्रकाश डालेगे।

लय योग और कबीर—आत्मा का परमात्मा में लय कर देना ही

१. देखिए लेखक की 'कबीर की विचारधारा' योग वर्णन।

लय योग है। इसकी सैकडो विधियाँ है। 'योग तत्त्वोपनिषद्' में लय योग पर विचार करते हुए स्पष्ट लिखा गया है—

"लययोगश्चित्तलयः कोटिशः परिकीर्तितः।
गच्छंस्तिष्ठन स्वपन मुन्जन ध्यायेर्मष्कलभीश्वरम् ॥"

अर्थात् चित्त का परमात्मा मे लय कर देना ही लय योग है। यह लय योग करोडो प्रकार का हो सकता है। साधक को चलते हुए, सोते हुए, खाते हुए सभी अवस्थाओ मे ईश्वर का ध्यान करना चाहिए। वास्तव मे करोडो प्रकार के लय योग का वर्णन करना असम्भव है। यहाँ पर हम अत्यन्त सक्षेप मे उन लय योगों का ही संकेत करेगे, जिनसे कबीर के रहस्यवाद का कुछ सम्बन्ध है। वे इस प्रकार निर्देशित किये जा सकते हैं। (१) मन लय योग (२) नाद लय योग (३) शब्द सुरति योग (४) सहज लय योग।

मन लय योग में साधक को अपने मन का लय उन्मन या महामन मे करना होता है। 'हठयोग प्रदीपिका' मे इस मन लय योग का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

"कर्पूरमनले यद्वत्सैन्धवं सलिले तथा।
तथा सन्धीयमानं च मनस्तत्त्वे विलीयते ॥"

मन यदि तत्त्व में केन्द्रित किया जाता है तो वह उसमे उसी प्रकार लीन हो जाता है जिस प्रकार अग्नि में कपूर और जल में लवण।

"ज्ञेयं सर्व प्रतीतिश्च ज्ञानं च मन उच्यते।
ज्ञान ज्ञेये समं नष्टं नान्यः पथा द्वितीयकः ॥"

अर्थात् जिन वस्तुओं को जाना जाता है वे ज्ञेय कहलाती है। उस जानने वाली शक्ति को ज्ञान कहते है। जब ज्ञान और ज्ञेय का भेद नष्ट हो जाता है तब दोनों मे कोई भेद नही रह जाता है। दूसरे स्थल पर इसी बात को और अधिक स्पष्ट किया गया है—

"भ्रुवोर्मध्ये शिवं स्थानं मनः तत्र विलीयते।
ज्ञातव्यं तत्पदं तुर्यं तत् कालो न विद्यते ॥"

अर्थात् भ्रूमध्य मे शिव-स्थान है। मन का लय उसी स्थान पर करना चाहिए। उसी तुरीयावस्था की अनुभूति करनी चाहिए। उसके अनुभव करने वाले को काल नही मार सकता। हठयोग प्रदीपिकाकार ने मन की साधना-विधि पर भी प्रकाश डाला है। वे लिखते है—

"निरालम्बं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्।
स बाह्याभ्यंतरे व्योम्नि घटवत्तिष्ठति ध्रुवम् ॥"

अर्थात् मन निरालम्बन करके किसी भी प्रकार का चिन्तन या ध्यान न करे। तब वह बाहर और भीतर दोनो स्थानो पर आकाश से भरे पात्र के सदृश हो जाता है—

"बाह्यवायुर्यथा लीनस्तथा मध्यो न संशयः।
स्व स्थाने स्थिरतामेति पवनो मनसो सहः ॥"

जब बाह्य वायु लीन होने लगती है आन्तरिक वायु स्वय ही लीन हो जाती है। इसके पश्चात् मन के साथ प्राण या वायु भी ब्रह्म रन्ध्र में शान्त हो जाता है—

"एवमभ्यासमानस्य वायुमार्गे दिवानिशम्।
अभ्यासाज्जीर्यते वायुर्मनस्तत्रैव लीयते ॥"

इस प्रकार जब-जब सुषुम्ना में दिन-रात प्राण-साधना का अभ्यास करते-करते प्राण जीर्ण कर दिया जाता है तो फिर प्राण के साथ मन भी स्थिर हो जाता है। मन लययोग-साधना के इस वर्णन के प्रकाश में यदि हम कबीर का अध्ययन करे तो उनमे मनलय योग सम्बन्धी रहस्य-वाद भी मिल जायगा। मनः लय से सम्बन्धित शुष्क वर्णन तो उनमें मिलते ही हैं; कहीं सुन्दर रहस्यात्मक वर्णन भी दिखाई पड़ जाते हैं। देखिए निम्नलिखित पक्तियो मे हमे उनके मनः लय योग का ही रूपकात्मक ढंग का वर्णन मिलता है—

"मन पवन जब परचा भया।
ज्यू नलि राखी रस माइयां ॥
कहे कबीर घट लेहु विचारी।
औघट घाट सींच ले न्यारी ॥"

इसी प्रकार जब मन 'उन्मन्न' से लग जाता है तब गगन-स्थित हो जाता है। गगन स्थित होने पर ही 'चद विहूणा' चाँदना दिखाई पड़ता है और 'अलख निरंजन' राम के दर्शन होते है—

"मन लागा उन्मन्न सो गगन पहुँचा जाय।
देखा चँद विहूणा चादणा अलख निरंजन राई ॥"

अब हम नाद लय योग पर विचार कर लेना चाहते है। कबीर मे नाद लय योग से सम्बन्धित रहस्यवाद भी मिलता है। नाद लय योग को 'हठयोग प्रदीपिका' के लेखक ने मुख्यतम योग माना है। वह लिखता है—

"श्री आदि नाथेन सपाद कोटि,
लय प्रकाराः कथिता जयन्ति।
नादानुसंधानकमेकमेक,
मन्यामहे मुख्यतमं लयानाम् ॥ ४। ६६"

अर्थात् श्री आदिनाथ ने सपाद कोटि लययोग का उपदेश दिया था। किन्तु उन सबमे मै नादलय योग को मुख्यतम मानता हूँ। इस नादयोग की प्रक्रिया का सकेत 'हठयोग प्रदीपिका' में इस प्रकार किया गया है—

"मुक्तासने स्थितो योगी मुद्राय संधायशाभवीम्।
शृणुयाद्दक्षिणे कर्णे नादमन्तः स्थमेकधी ॥ ४। ६७
श्रवन पुट नयन युगल घ्राण मुखाना तिरोधनं कार्यम्।
शुद्ध सुषुम्णा सरणौ स्फुटममलः श्रूयते नादः ॥४। ६८".

\+ + + +

"अभ्यस्य मानो नादोऽयं बाह्यमावृणुते ध्वनीम्।
पक्षाद्विक्षेपमखिलं जित्वा योगी सुखी भवेत् ॥ ४। ८३

श्रुयते प्रथमाप्यासे नादोनानाविधो महान् ।
ततो अभ्यासे वर्धमाने श्रुयते सूक्ष्म सूक्ष्मकः ॥ ४ । ८४,
आदौ जलधि जीमूत भेरी झर्झर सम्भवः ।
मध्ये मर्दल शङ्खोत्था घण्टा काहलजास्तथा ॥४॥ ८५
अन्ते तु किंकिणी वंश वीणा भ्रमर निःस्वनाः ।
इति नानाविधाः नादा श्रुयन्ते देहमध्यगा ॥ ४ । ८६
यत्र कुत्रापि वा नादे लगति प्रथमं मनः ।
तत्रेव सुस्थिरीभूय तेन सार्धं विलीयते ॥ ४ । ८६"

अर्थात् योगी को चाहिए कि वह शाम्भवी मुद्रा धारण करके एकाग्र चित्त होकर दाहिने कर्ण से अन्तस्थ नादों का श्रवण करे। फिर कान, आँख, नाक तथा मुख बंद करके सुषुम्ना में नादानुसधान करे। नाद-श्रवण का इस प्रकार अभ्यास कर लेने पर साधक बाह्यनादो से क्रमशः उदासीन होता जाता है। योगी अपने मन की अस्थिरता पर विजय प्राप्त करके १५ दिन मे ही आनन्द मे लीन होने लगता है। नाद पहले अपने स्थल रूप मे सुनाई पडता है। वह प्रायः समुद्र अथवा मेघ के गर्जन, भेरी तथा झर्झर ध्वनि के सदृश होता है। साधना के मध्य में जा ध्वनियाँ सुनाई पड़ती है वे मृदाल घण्टा तथा शख की ध्वनियो से मिलती-जुलती है। अन्त में सुनाई पड़ने वाली ध्वनियाँ, किंकणी, बाँसुरी, वीणा तथा भ्रमर के निस्वन जैसी होती है। मन इस नाद मे कही भी केन्द्रित होकर उसमे लीन हो जाता है।

महात्मा कबीर ने नादलय योग से सम्बन्धित रहस्याभिव्यक्ति भी पाई जाती है। नादानुसन्धान के मार्ग में विविध प्रकार की जो ध्वनियाँ सुनाई पड़ती है उनके रोचक वर्णन कबीर ने भी अपने ढंग पर किये है। गगन के गर्जन की ध्वनि का वर्णन बहुत बार किया है। 'हठयोग प्रदीपिका' के अनुसार नाद श्रवण की प्राथमिक अवस्था है—कबीर लिखते है-

(i) *'गगन गरज मघ जोइए'*

(ii) *'गगन गरजि मन सुन्न समाना'*

इसी प्रकार अन्य ध्वनियो का भी सकेत किया है—

"बिनही ताला ताल बजावै बिन मंदल पट ताला।
बिनही सबद अनाहद बाजै तहाँ निरतत है गोपाला॥"[1]

अनहद नाद का उन्होने अनेक स्थलों पर वर्णन किया है। अनहद नाद श्रवण नादलय की पराकाष्ठा है। इसी बात को कबीर ने देखिए कैसे काव्यात्मक ढंग से रक्खा है—

"ससिहर सूर मिलावा, तब अनहद बेन बजावा।
जब अनहद बाजा बाजै, तब सांईं सेज विराजै॥"[2]

इसी प्रकार उनके नादलय योग के बहुत-से उदाहरण उनकी बानिओ मे ढूंढे जा सकते हैं। विस्तार-भय से हम अधिक उदाहरण नहीं दे रहे हैं।

नादलय योग का एक अपना रूप हमें स्वय कबीर मे मिलता है। वह है उनका शब्द-सुरति योग। इस शब्द-सुरति योग का वर्णन योग-शास्त्र के ग्रन्थो मे नही मिलता। इसके बीज सिद्धो में ढूंढे जा सकते है। किन्तु इसके प्रस्थापक और प्रवर्त्तक महात्मा कबीरदासजी है। इस शब्द के सुरति-योग के रहस्यात्मक वर्णन कबीर मे बहुत कम मिलते है। इनमें हमे नाद-बिंदु की चर्चा भी जगह-जगह पर मिलती है। किन्तु नाद बिन्दुलय योग का साङ्ग साधना का विकास उनमें कही भी नही दिखाई पड़ता। साग साधना के विकास वर्णन के अभाव मे रहस्यात्मक वर्णनों का प्रश्न ही नही उठता। इसके अतिरिक्त कबीर में लय योग और अन्य कई प्रकार के रहस्यात्मक वर्णन मिलते है। उनमे एक को हम सहज लय योग कह सकते है। उसका एक रहस्यात्मक वर्णन उदाहरण के रूप मे इस प्रकार दिया जा सकता है—

---

१. 'कबीर ग्रथावली', पृष्ठ ४०।

२. वही, पृष्ठ—१४६।

"गंग जमुन के अन्तरे सहज सुन्न ल्यौं घाट ।
तहाँ कबीरे मठ रच्या मुनि जन जोवें बाट ॥"

राजयोग और कबीर—लययोग के बाद राजयोग आता है । यद्यपि राजयोग को सरल स्पष्ट और रहस्यहीन कहा जा सकता है किन्तु कबीर की रहस्यात्मक प्रवृत्ति ने राजयोग मूलक रहस्याभिव्यक्ति को भी जन्म दे दिया है । अत. यहाँ पर थोडा-सा राजयोग का भी परिचय दे देना आवश्यक है । हठयोग और लययोग को हम राजयोग की प्रथम भूमिकाएँ मान सकते है। हठयोगप्रदीपिकाकार ने हठयोग का अध्ययन एव उसकी साधना राजयोग के लिए ही मानी है । उसने ग्रथ के प्रारम्भ में ही लिख दिया है—

'केवल राजयोगाय हठ विधोपदिश्यते' अर्थात् केवल राजयोग के हेतु ही हठयोग का उपदेश दिया जा रहा है । वह लययोग की पराकाष्ठा राजयोग मे ही मानता है—

'एकी भूते तदाचित्त राजयोगामिधानकम्' अर्थात् लययोग से जब चित्त तत्त्व मे पूर्ण केन्द्रित हो जाता है तब उसे राजयोग कहते हैं। यह राजयोग योगशास्त्र मे विविध नामो से प्रसिद्ध है । 'हठयोग प्रदीपिका' में यह नाम इस प्रकार बताए गए है—

"राजयोग समाधिश्च उन्मनी च मनोन्मनी
अमरत्वं लयस्तत्त्वं शून्याशून्यं परम पदम् ।
अमनस्कं तथाऽद्वैत निरालम्ब निरजनं
जीवन मुक्तिश्च सहजा तुर्याचेत्येक वाचकाः ॥"

अर्थात् राजयोग समाधि उन्मनी, मनोन्मनी, अमरत्व, लयतत्व, शून्याशून्य, परमपद, अमनस्क, अद्वैत, निरवलम्ब, निरञ्जन, जीवनमुक्ति, सहजा, तुर्या आदि सब पर्यायवाची पद है। राजयोग वास्तव में हठयोग के पश्चात् की साधना हठयोग में शारीरिक साधना पर बल दिया जाता है किन्तु राजयोग का सम्बन्ध मन से माना जाता है । इसीलिए आचार्यों

का कहना है, 'अष्टाग योग' के प्रथम चार अंग हठयोग के अन्तर्गत आते और उसके अन्तिम चार अग राजयोग का स्वरूप निर्माण करते हैं। इस प्रकार प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि को हम राजयोग के चारो चरण मान सकते है। बहुत-से योगी केवल समाधि को ही राजयोग मानते है। राजयोग के चारो अगो का सक्षिप्त विवेचन कर देना आवश्यक है। वे चार अग क्रमश. प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि है। प्रत्याहार का वर्णन करते हुए 'योग दर्शन' में लिखा है—

'स्वविषयासं प्रयोगे चित्त स्वरूपा नुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः'

अर्थात् अपने विषयो के सग से रहित होने पर इन्द्रियो का चित्त से एकाकार प्राप्त करना ही प्रत्याहार है। इन्द्रियो का स्वामी मन है यदि मन का निरोध हो जाय तो इन्द्रियो का निरोध रूप प्रत्याहार अपने-आप प्राप्त हो जाता है। महात्मा कबीर ने प्रत्याहार के भी कुछ रहस्यात्मक वर्णन किये है—

(i) *"मन न मार्‍याँ मन करि सके न पंच प्रहारि।*
सील साँच सरधा नहीं इन्द्री अजहुँ उधारि॥"

(ii) *"मैंमंता मन माहिरे नन्हा करिकरी पीस।*
तब सुख पावै सुन्दरी ब्रह्म झल्लकै सीस॥"

(iii) *"कागद केरी नावरी पाणी केरी गंग।*
कहै कबीर कैसे तिरुं पंच कुसंगी गंग॥"

(iv) *"काटी कूटी मछली छीके धरी चहोड़ि।*
कोई एक अखिर मन वसा दह में पड़ी बहोरि॥"

(v) *"काया कसू कमाण ज्यू पंच तत्तकरि बाण।*
मारौ तो मन मृग को नहीं तो मिथ्या जाण॥"

राजयोग का दूसरा अग धारणा है। धारणा को हम ध्यान और समाधि के लिए अनिवार्य मानते है। 'योग दर्शन' मे धारणा को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

'देशबन्धुश्चित्तस्य धारणा'[1]

अर्थात् चित्त को किसी एक देश विशेष में स्थिर करने का नाम धारणा है। महात्मा कबीर मे धारणा नामक अवस्था से सम्बन्धित कुछ रहस्यात्मक वर्णन मिलते है। कबीर का लक्ष्य अपने मन को अपनी हृदयस्थ गुफा मे स्थित अपने आराध्य पर केन्द्रित करना था। मन स्वभावत: बहिर्गामी है। वह बार-बार बाहरी विषयो की ओर चला जाता है। अत: कबीर उसे बहिर्विषयों की ओर जाने से रोकते है तथा हृदय-गुफा में स्थित आराध्य की सेवा मे लगने का आग्रह करते है—

"रे मन बैठि किते जिनि जासी,
हृदय सरोवर है अविनाशी।
काया मध्ये कोटि तीरथ काया मध्ये कासी
काया मध्ये कंवल कवलापति काया मध्ये बैकुण्ठ वासी।"

मन की यह धारणा तन-मन जीवन सौपकर मनसा वाचा कर्मणा होनी चाहिए। यदि ऐसा नही होता तो आत्मा की सारी साधनाएँ व्यर्थ होती है। इस बात का कबीर ने पतिव्रता के रूपक से बड़े सुन्दर ढंग से कहा है—

"जो पै पिय के मन नहीं भाए।
तौ का परोसिन के हुलराय॥
का चूरा पायल झमकाए।
कहा भयो बिछुआ ठमकाए॥
का काजल सिंदूर के दियै।
सोलह सिगार कहा भयो कियै॥
अंजन मञ्जन करै ठगौरी।
का पाँच मरै निगौड़ी बौरी॥
जौ पै पतिव्रता ह्वै नारी।
कैसे ही वह रहै पियाही पियारी॥

---

१. योगसूत्र ३।१

तन मन जोवन सौंपि सरीरा।
ताहि सुहागिनि कहै कबीरा॥"

राजयोग का तीसरा अग ध्यान माना जाता है। ध्यान को स्पष्ट करते हुए 'योग दर्शन' में कहा है—

'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।'[१]

अर्थात् पूर्वोक्त ध्येय वस्तु मे चित्तवृत्ति की एकतानता का नाम ध्यान है। दूसरे शब्दों में यों कह सकते है कि अविच्छिन्न रूप से निरंतर ध्येय वस्तु में ही अनवरत लगा रहना ध्यान है। 'योगवाशिष्ठ' मे ध्यान केन्द्रित करने का अभ्यास तीन प्रकार से बताया गया है। साधक को सबसे पहले ब्रह्म भानना दृढ़ करनी चाहिए। उसे ऐसा अभ्यास करना चाहिए कि संसार-भर मे आत्मतत्त्व की अद्वैतता की ही प्रतीति होती रहे। फिर मन को तन्मय करने का अभ्यास करे। ब्रह्माभ्यास करने से मन ब्रह्माकार होकर विलीन हो जाता है और प्राणो की गति भी स्वयं ही रुक जाती है। क्योंकि यह नियम है जो जिस वस्तु की दृढ़ भावना करता है वह तद्रूप हो जाता है। ब्रह्म भावना के बाद अभाव भावना का अभ्यास आता है। ऐहिक पदार्थो को असत् समझकर उनके पारमार्थिक अभाव की दृढ भावना करना ही अभाव भावना का अभ्यास कहलाता है। इस भावना से समस्त सासारिक द्वैत और द्वन्द्व मिट जाते है। अभाव भावना के बाद केवली भाव का अभ्यास आता है। जब साधक केवल एक आत्मतत्त्व की स्थिति को मानते हुए दृश्य पदार्थो के मिथ्यातत्त्व की दृढ़ भावना होने के कारण अपते दृष्टापन को भी असत् मानने का अभ्यास करता है। तब उसे 'केवली भाव' का अभ्यास कहते हैं। महात्मा कबीर वास्तव में राजयोगी साधक थे। उनमे हमें ध्यान को केन्द्रित करने के उपर्युक्त तीनो प्रकार के प्रयत्न मिलते है। इन प्रयत्नों के बीच बीच कही उनका रहस्यवादी भी मुखरित हो उठा है। ब्रह्मभावना के अभ्यास की अभिव्यक्ति उन्होने बहुत-से स्थलो पर रहस्या-

१. योग दर्शन ३।२

त्मक ढंग से की है।

कबीर ने ध्यान योग की प्राप्ति धीरे-धीरे मानी है। जब साधक ब्रह्मभावना का सतत अभ्यास करता रहता है तब धीरे-धीरे पूर्ण ध्यान की अवस्था प्राप्त होती है। कबीर ने उसे उन्मनी ध्यान का अभिधान दिया है। देखिए निम्नलिखित पक्तियो मे ध्यान योग का रहस्यात्मक वर्णन किया गया है—

"अब घट प्रगट भए राम राई।
सोधि सरीर कनक की नाई ॥ टेक।
कनक कसौटी जैसे कसिलेइ सुनारा।
सोधि सरीर भयो तन सारा ॥
उपजत उपजत बहुत उपाई।
मन थिरि भयो तब तिथि पाई ॥
बाहर खोजत जनम गँवाया।
उन्मनी ध्यान घट भीतर पाया ॥
बिन परजे तन काँच कथीरा।
परचै कञ्चन भया कबीरा ॥"

कबीर ने केवली भाव का भी रहस्यात्मक वर्णन किया है—

"मैं सबनि मैं औरनि में हूँ सब,
मेरी विलगि विलग बिलगाई हो।
कोई कहौ कबीर कोई कहौ राम राई हो ॥ टेक ॥"

"नाहम बार बूढ़ नाही हम नां हमरे चिलकाई हो।
पठिए न जाऊँ अँखा नहीं आऊँ सहजि रह हरिआई हो ॥
बोढ़न हमरे एक पछेवरा लोक बोलै इकताई हो।
जुलहे तन बुनि पानन पावल फारि बुनी दस ठाइं हो ॥
त्रिगुण रहित फल रमि हम राखल तव हमरो नाम राम राई हो।
जग मैं देखौ जग न देखै मोहि इहि कबीर कछु पाई हो ॥"

इसी प्रकार अभाव भावना के भी वर्णन मिलते है। उसका एक उदाहरण इस प्रकार है—

"हम तो एक एक करि जाना।
दोई कहै तिनही को दोजक जिन नाहिं न पहचाना॥
एकै पवन एकै पानी एकै ज्योति सँसार।
सब घटि भीतर तू ही व्यापक धरै सरूपै सोई॥"

अभाव भावना से सम्बन्धित रहस्यात्मक पद कबीर मे बहुत कम है। उपर्युक्त पद दर्शन के अधिक समीप है, रहस्यवाद के कम।

ध्यान योग की उपर्युक्त तीन प्रकार की भावनाओं के अभ्यास-सम्बन्धी रहस्याभिव्यक्तियो के अतिरिक्त कबीर मे हमे ध्यान के कुछ प्रकारों के रहस्यात्मक वर्णन भी मिलते है। ध्यान के तीन प्रकार प्रसिद्ध है—स्थूलध्यान, ज्योतिर्ध्यान, सूक्ष्मध्यान। स्थूलध्यान में अपने इष्ट देव के स्थूल रूपाकार का ध्यान करना है। भक्त लोग अधिकतर स्थूल ध्यान में ही निमग्न रहते है। ज्योतिर्ध्यान में ज्योति रूपी ब्रह्म का ध्यान किया जाता है। इस कोटि के ध्यान की मान्यता योगियो में है। सूक्ष्मध्यान में साधक चलायमान कुण्डलिनी शक्ति का ध्यान करता है। इसके लिए वह शाम्भवी मुद्रा का अनुष्ठान करता है। भ्रकुटी के मध्य में दृष्टि को स्थिर करके एकाग्र चित्त से ध्यान योग से परमात्मा के दर्शन करना शाम्भवी मुद्रा कहलाती है। इस सूक्ष्म ध्यान की साधना पहुँचे हुए योगी ही कर पाते है। महात्मा कबीर भक्त और योगी दोनों ही थे इसलिए उनमे तीनो प्रकार के ध्यानो से सम्बन्धित शक्तियाँ पाई जाती है, किन्तु रहस्य-भावना की अभिव्यक्ति उनके ज्योतिर्ध्यान और सूक्ष्म ध्यान से सम्बन्धित उक्तियो मे ही पाई जाती है। कबीर ने ज्योतिर्ध्यान के विविध वर्णन लिखे है, उनमे से कुछ काफी रहस्यात्मक हो गए है। कबीर जिस ज्योति को अपने मे देखते हैं वह सौ सूरजो से भी अधिक जाज्वल्यमान है—

"कबीर तेज अनंत का, मानो उगी सूरज श्रेणि।
पति सँग जागी सुन्दरी, कौतिग दीठा तेणि॥"

यह ज्योति सूर्य और चन्द्र की ज्योति से भी भिन्न होती है। वे लिखते है—

"कौतिग दीठा देह बिन, रवि ससि बिना उजास।
साहिब सेवा माँहि है, बेपरवांही दास॥"

इस ज्योति का कोई वर्णन नहीं कर सकता। इसके रहस्य को वही जानता है जिसने इसका साक्षात्कार किया है—

"पारब्रह्म के तेज का, कैसा है उन्मान।
कहिबे को सोभा नहीं, देख्या ही परवान॥"

यह ज्योति अगम अगोचर स्थान में दृश्यमान होती है—

"अगम अगोचर गमि नहीं तहाँ जगमगै ज्योति।
जहाँ कबीरा बन्दगी पाप पुण्य नहीं छोति॥"

इसी प्रकार उन्होने अन्य बहुत-से स्थलो पर ज्योतिर्ध्यान के अनेक रहस्यात्मक वर्णन प्रस्तुत किये है।

कबीर में सूक्ष्म ध्यान-सम्बन्धी वर्णन भी पाए जाते है। बहुत-से स्थलों पर शाम्भवी मुद्रा का भी सकेत मिलता है। देखिए निम्नलिखित पक्ति मे उन्होंने त्रिकुटी सगम पर स्वामी के दर्शन की बात कही है—

"सुमति शरीर कबीर बिचारी, त्रिकुटी संगम स्वामी।"

बहुत-से स्थलो पर कबीर ने सूर की चद मे समाने की बात कही है। ऐसे स्थलो पर उनका सकेत सूक्ष्म ध्यान की ओर ही मालूम पड़ता है। क्योकि सूक्ष्म ध्यान योगी ही मूलाधार के सूर का सहस्रार के चन्द्र में लय होना देख सकता है। कबीर ने इसका इस प्रकार संकेत किया है—

"सूर समांणाँ चद में, दुहूँ किया घर एक।
मनका च्यता तब भया, कछू पूरबला लेख॥"

देखिए निम्न लिखित पद मे कबीर ने सूक्ष्म ध्यान की ओर ही संकेत किया है। इसके लिए उन्होने प्रथम तो हठयोगिक प्रक्रियाओं को संकेत किया है। वास्तव मे हठयोग राजयोग का प्रथम सोपान ही है। इसलिए उसकी साधना परमावश्यक होती है। किन्तु कबीर हठयोग के बाद ध्यान योग को भो महत्त्व देते थे। नीचे लिखे पद से इस बात की पुष्टि-सी होती है—

"ऐसा ध्यान घरौ नरहरी, सबद अनाहद च्यतन करी
पहली खोजौ पँचे बाइ ब्यंद ले गगन समाइ ॥
गगन ज्योति तहाँ त्रिकुटी संधि, रवि ससि पवना मेलौ बाँध।
मन थिर होइत कवल प्रकासै, कवला मांहि निरंजन बासै ॥
सतगुर सँपट खोलि दिखावै, निगुरा होइ तौ कहाँ बतावै ॥
सहज लछिन ले तजौ उपाधि, आसण दिढ निन्द्रा पुनि साधि।
पुहुप पत्र जहाँ हीरामणी, कहै कबीर तहाँ त्रिभुवन धणी ॥"

इस प्रकार हम देखते है कबीर में ध्यानयोग से संबन्धित विविध प्रकार की रहस्योक्तियाँ मिलती है।

राजयोग का अंतिम अंग समाधि है, ये सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अंग है। बहुत-से लोग तो इसीको राजयोग का अभिधान देते हैं। ध्यान ही जब ध्येयाकार रूप से साक्षी मे निर्भासित होने लगता है तथा चित्त के ध्येयी स्वरूप में लीन हो जाने के कारण मैं इस प्रकार का ध्यान कर रहा हूँ आदि जैसी अनुभूतियो का उदय होने के कारण जब प्रत्ययात्मक स्वरूप से शून्य हो जाता है तब वही समाधि के नाम से अभिहित किया जाने लगता है। अधिक स्पष्ट शब्दों में कहना चाहें तो ये कह सकते है कि जब ध्यान ज्ञानाकार रूप से अलग निर्भासित न होकर ध्येयाकार रूप से प्रतीत होने लग जाता है तभी उसे समाधि कहने लगते है। 'योग सूत्र' में समाधि की परिभाषा इस प्रकार दी है—

"तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।"

अर्थात् जिस समय केवल ध्येय स्वरूप का ही भान होता है अपने स्वरूप का भान नही होता तब ध्यान ही समाधि में परिणत हो जाता है। ध्यान में ध्याता, ध्यान और ध्येय की त्रिपुटी रहती है किन्तु समाधि में केवल ध्येय वस्तु हा शेष रह जाती है। ध्याता, ध्यान और ध्येय मिल कर एक हो जाते हैं। समाधि के सम्बन्ध में कुछ अन्य परिभाषाओ पर विचार कर लेना अनिवार्य है। 'अन्नपूर्णोपनिषद्' और 'जाबालिदर्शनोपनिषद्' मे समाधि का स्वरूप इस प्रकार संकेतित किया गया है—"जीवात्मा और परमात्मा की एकता के ज्ञान के उदय को ही समाधि कहते हैं।" मुक्तिकोपनिषद्' में भी समाधि का स्वरूप स्पष्ट किया गया है—

"मुनियो के द्वारा साधित समाधि उस सकल्प-शून्य अवस्था का नाम है; जिसमे न तो मन की क्रिया शेष रहती है न बुद्धि का व्यापार ही। यह आत्मज्ञान की वह अवस्था है जिसमे प्रत्यक् चैतन्य के अतिरिक्त सबका बाध हो जाता है 'वृहदारण्यकोपनिषद्' में समाधि की अवस्था का वर्णन इस प्रकार किया गया है—"जिस क्षण हृदय मे भरी हुई सारी कामनाएँ नष्ट हो जाती है उसी क्षण ये मरणधर्मा मनुष्य अमृतत्त्व धारण कर लेता है और इसी जीवन मे ब्रह्मानन्द का आस्वादन करता है।" इस प्रकार योग-ग्रंथो मे समाधि की अवस्था का विस्तार से वर्णन किया गया है। समाधि की यह अवस्था अनिवेद्य और अनिर्वचनीय होती है। 'मैत्रायण्योपनिषद्' में लिखा है—

"समाधिनिधूर्तमलस्य चेतसो,
निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं लभेत्।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा
स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते॥"

अर्थात् समाधि में निमग्न मन आत्मा में लीन होकर आत्म-रस

का पान करता है। उस रस-पान की अवस्था का वर्णन वाणी से नही किया जा सकता, वह केवल अनुभूति की वस्तु है। महात्मा कबीर ने इसीलिए अपनी समाधि की अवस्था की अनुभूतियो को अनिर्वेद्य कहा है—

"देख्या है तो कसू कहूँ, कहूँ तो को पतियाय।
गूँगे केरी शरकरा, बैठे ही मुसकाय॥"

किंतु मनुष्य की यह मनोवैज्ञानिक विशेषता है कि वह अपनी अनुभूतियो की अभिव्यक्ति के लोभ का संवरण नही कर पाता है। कबीर इसका अपवाद नही थे। उन्होने इसीलिए जगह-जगह पर समाधि की अवस्था के विविध रंगी रहस्यात्मक चित्र चित्रित किये है। यहाँ पर हम उनके कुछ सुन्दर चित्र सकेतित कर देना चाहते है। देखिए निम्नलिखित चित्र मे कवि ने हठयोगजनित समाधि की अवस्था का कैसा रहस्यात्मक वर्णन किया है—

"अवधू मेरा मन मतिवारा।
उन्मनि चढ़्या मगन रस पीवै, त्रिभुवन भया उजियारा॥
गुड़ करि ग्यान ध्यान कर महुवा, भव भाठि करि भारा।
सुषमन नारि सहजि समानी, पीवै पीवन हारा॥
दोइ पुड़ जोड़ि चिगाई भाठी, चुआ महारस भारी।
काम क्रोध दोइ किया पलीता, छूटि गई संसारी॥
सुनि मँडल मैं मँदला बाजै, तहाँ मेरा मन नाचै।
गुर प्रसादि अमृत फल पाया, सहजि सुषमना काछै॥
पूरा मिल्या तबै सुष उपज्यो, तन की तपनि बुझानी।
कहै कबीर भव-बंधन छूटै, जोतिहि जोति समानी॥"

इस कोटि का एक दूसरा चित्र इस प्रकार है—

"छाकि पर्यो आतम मतिवारा,
पीवत राम रस करत विचारा।

बहुत मोलि महँगे गुड़ पावा, लै कसाब रस राम चुवावा ॥
तन पाटन मैं कीन्ह पसारा, मांगि माँगि रस पीवै विचारा।
कहै कबीर फाबी मतिवारी, पीवत राम रस लगी खुमारी ॥"

राजयोगमूलक समाधि के भी सुन्दर चित्र कबीर में मिलते हैं। जब उनकी समाधि लग जाती है तो उन्हें फिर यह भय नहीं रहता कि उनका मन किसी दूसरी ओर चला जायगा। राजयोग से यहाँ हमारा तात्पर्य कबीर की भाव भक्ति से है। वह लिखते हैं—

"रे मन जाहि जहाँ तोहि भावै,
अब न कोई तेरै अंकुश लावै ॥
जहां जहाँ जाइ तहाँ तहाँ रामा
हरि पद चीन्हि कियौ विश्रामा ॥
तन रंजित तब देखियत दोई
प्रगट्यौ ग्यान वहाँ वहाँ सोई ॥
लीन निरँतर वपु बिसराया,
कहै कबीर सुख सागर पाया ॥"

कबीर ने सहज समाधि की बहुत चर्चा की है। यह सहज समाधि हठयौगिक समाधि से भिन्न है। सहज भाव से सदाचार का पालन करना और भगवान् में भक्ति रखना उनके सहजयोग का लक्षण था। इससे उद्‌भूत आनन्द को ही उन्होंने सहज समाधिमूलक रस माना है। इस सहज समाधि का एक वर्णन देखिए—

"आत्मा अनंदी जोगी। पीवै महारस अमृत भोगी ॥
ब्रह्म अगनि काया परजारी। अजपा जाप [illegible]मनी तारी ॥
त्रिकुटि कोट मैं आसण माँडै। सहज समाधि बिषै सब छाड़ै ॥
त्रिवेणी बिभूति करै मन भंजन। जन कबीर प्रभू अलख निरंजन॥"

कबीर ने अपने सहजयोग में मन-साधना पर सबसे अधिक जोर

दिया था, क्योकि मन के शुद्ध होने पर ही। मनुष्य सदाचरण में स्वयं विश्वास करने लगता है इसीलिए उन्होंने मन.योग की सहज योग के रूप में प्रतिष्ठा की है उसका वर्णन इन पक्तियों मे किया गया है—

"सो जोगी जाकै मन मैं मुद्रा,
राति दिवस न करई निद्रा॥
मन मैं आसण मन मैं रहणा, मन का जप तप मन सूँ कहणा।
मन मैं षपरा मन मैं सींगी अनहद बेन बजावै रंगी॥
पंच परजारि भसम करि भूका, कहै कबीर सो लहसै लंका॥"

इस मन योग की साधना साधक को समाधि की उस अवस्था मे पहुँचा देती है जिसे हम जीवन-मुक्ति की अवस्था कह सकते है। उसका वर्णन कबीर ने निम्नलिखित साखी में किया है—

" मैं मंता अविगत रता, अकलप आसा जीति।
राम अमिल माता रहै, जीवन मुकित अतीति॥"

इस प्रकार कबीर में हम राजयोग के सुन्दर रहस्यात्मक वर्णन पाते है।

मंत्रयोग और कबीर :—मत्रयोग का भी योगियों में बड़ा मान है। मन्त्र योग का विषय बहुत विस्तृत है उसे स्पष्ट करने के लिए बहुत स्थान और समय की आवश्यकता है। यहाँ पर हम मन्त्र योग से केवल जप-साधना का अर्थ लेकर कबीर में तत्सम्बन्धी रहस्याभिव्यक्तियों पर प्रकाश डालना चाहते है। यौगिक साधना में जप का बहुत महत्त्व माना जाता है। उसे हमारे यहाँ एक प्रकार का यज्ञ माना है। गीता में भगवान् ने '*यज्ञानाम् जपयज्ञोस्मि*' कहकर जप की महत्ता प्रतिपादित की है। जप के अनेक प्रकार और भेद माने गए है। कबीर आदि सत कवियो ने मानस-जप को बहुत अधिक महत्त्व दिया था। इस प्रकार के जप योग में मंत्रावृत्ति केवल मन में की

जाती है। महाराज मनु ने इस मानस-जप का बडा भारी मत्त्हव बतलाया है। उनके मतानुसार "दसपौर्णमासरूप" कर्म यज्ञो की अपेक्षा जप यज्ञ दस गुना श्रेष्ठ है। उपाशु जप सौ गुना और मानस जप सहस्र गुना श्रेष्ठ है। इस मानस जप का सबसे सुन्दर और महत्वपूर्ण रूप अजपा जाप है। योगी लोग अधिकतर इसीकी साधना करते हैं। इस अजपा जाप मे श्वासोच्छ्वास की क्रिया के साथ ही साथ मत्रावृत्ति की जाती है। इस मे जब श्वास मे पूरक होता है तब सो का उच्चारण मन-ही-मन मे किया जाता है। रेचक (श्वास के नीचे लौटने में या बाहर निकलने) मे अह का मानसिक उच्चारण माना जाता है। प्रारम्भ में पूरक और रेचक के साथ मत्रावृत्ति की भावना करना बड़ा कठिन होता है। किन्तु धीरे-धीरे जब अभ्यास हो जाता है तब साधक अपनी आत्म-शक्ति के दर्शन करने मे समर्थ होता है। अजपा जाप का सम्बन्ध नाद-साधना से माना जाता है। कहते हैं इक्कीस सौ साठ जप पूर्ण हीने पर नाद जाग्रत होता कबीर इस रहस्य से परिचित थे निम्नलिखित पद मे इसी रहस्य का सकेत किया गया है—

"अवधू जोगी जग से न्यारा।
मुद्रा निरति सुरति करि सिगी, नाद न षंडै धारा॥
बसे गगन मे दुनी न देखै, चेतिन चौकी बैठा।
चढ़ि अकास आसन नहि छाड़ै, पीवे महारस मीठा॥
परगट कन्था माँहैं जोगी, दिल मैं दरपन जोवै।
सहस इकीस छः सै धागा, निहचल नीके पीवै॥
ब्रह्म अगिनि में काया जारै, त्रिकुटी संगम जागै।
कहै कबीर सोइ जोगेश्वर, सहज सुनि ल्यौ लागै॥"

इस प्रकार कबीर मे बहुत-से ऐसे वर्णन मिलते है जिनमें अजपा-जाप के हस्यात्मक संकेत किये गए है। विस्तार भय से उनको उद्धृत

नही कर पा रहे है। इस प्रकार हम देखते है कि कबीर में हमें हठयोग, लययोग, राजयोग, मन्त्रयोग तथा और विविध प्रकार के योगों से सम्बन्धित रहस्यपूर्ण वर्णन मिल जाते है। इन वर्णनो को देखकर कबीर की कविता पर चमत्कृत हो जाना पड़ता है। योग-जैसे जटिल विषय का उन्हें सूक्ष्मातिसूक्ष्म ज्ञान था, उनकी काव्यात्मक प्रवृत्ति और चमत्कार पूर्ण अभिव्यक्ति ने इस ज्ञान को रहस्यवाद के साँचे में ढाल-कर और भी जटिल और चमत्कारपूर्ण बना दिया है। निश्चय ही वह हमारी भाषा के सर्व श्रेष्ठ साधनात्मक रहस्यवादी थे। साधानात्मक रहस्यवाद या यौगिक रहस्यवाद में हमे रहस्यवाद की अन्तर्मुखी प्रक्रिया ही सक्रिय मिलती है। इस प्रकार की प्रक्रिया मे रहस्यवादी अपने अन्तर के रहस्यो का ही उद्घाटन करता है। कबीर ने अपने हठयोगिक, लय यौगिक आदि सभी वर्णनो मे अपने शरीरान्तर्गत रहस्यो का ही उद्-घाटन किया है। जहाँ कही उन्होने रहस्यवाद की बहिर्मुखी प्रक्रिया को अपनाने का प्रयत्न भी किया है वहाँ वे सफल नहीं हो पाए है। उनकी बहिर्मुखी प्रक्रिया भी अन्तर्मुखी प्रक्रिया का ही रूप धारण करने लग जाती है। उदाहरण के लिए हम निम्नलिखित पद ले सकते हैं—

"अच्यंत च्यंत ए माधौ, सो सब माँहिं समाँना।
ताहि छाड़ि जे आँन भजत हैं, ते सब भ्रंमि भुलाना॥
ईस कहें मैं ध्यान न जानूँ, दुरलभ निज पद मोहीं।
रंचक करुणाँ कारणि कैसो, नाँव धरण कौ तोहीं॥
कहौ धौ सबद कहाँ थै आवै, अरु फिरि कहाँ समाई।
सबद अतीत का मरम न जानै, भ्रंमि भूली दुनियाई॥
प्यण्ड मुकति कहाँ ले लीजै, जौ पद मुक्ति न होई।
पींडैं मुकति कहत हैं मुनिजन, सबद अतीत था सोई॥
प्रकट गुपत गुपत पुनि प्रकटत, सो कत रहै लुकाई।
कबीर मनाए परमानन्द, अकथ कथ्यौ नहीं जाई॥"

इस पद में पहले तो वे वर्णनात्मक शैली में बहिर्प्रक्रिया वाले रहस्यवाद को लेकर चले हैं, बाद में वे शब्दवाद का आध्यात्मिक शैली में कथन करने लगते हैं। अतएव रहस्यवाद की बहिर्मुखी प्रक्रिया अधूरी ही रह जाती है।

: ४ :

अभिव्यक्तिमूलक रहस्यवाद

भावात्मक और साधनात्मक रहस्यवाद के अतिरिक्त हमें कबीर में एक प्रकार का रहस्यवाद और मिलता है। इस प्रकार के रहस्यवाद में न तो भावात्मक रहस्याभिव्यक्ति मिलती है और न साधनात्मक रहस्याभिव्यंजना ही। इस प्रकार के रहस्यवाद की रहस्यात्मकता का आभास केवल अभिव्यक्तिमूलक जटिलता और चमत्कार के कारण होता है इसीलिए हमने इसे अभिव्यक्तिमूलक रहस्यवाद का अभिधान दिया है।

अभिव्यक्तिमूलक रहस्यवाद के भी कई प्रकार और स्वरूप हो सकते है। संक्षेप में हम उनका निर्देश इस प्रकार कर सकते है—

१—आध्यात्मिक तथ्यो का उलटवासियो के रूप मे कथन करना।

२—साधारण-सी बातों को अद्भुत रूप से रोचक शैली मे प्रकट करना।

३—केवल पारिभाषिक शब्दो के सहारे कुछ अस्पष्ट शैली में किसी अस्पष्ट तथ्य का कथन करना।

४—लक्ष्यहीन रूपको अन्योक्तियों आदि अलंकारों तथा प्रतीकों आदि की योजना करना।

१—*आध्यात्मिक तथ्यों का उलटवासियों के रूप में कथन*:—अध्यात्म का विषय सदा से ही बड़ा गूढ रहा है। दर्शनिकों की बुद्धि भी कभी-कभी उसे स्पष्ट करने में असफल हो जाती है। फिर

दर्शन-शास्त्र का तथ्य-प्रतिपादन-क्रम साधारण समाज के लिए बोधगम्य नही होता। दूसरे दर्शन की शैली बडी ही शुष्क, नीरस और वर्णनात्मक होती है। उसमें किसी प्रकार का चमत्कार नही पाया जाता। चमत्कार और वैचित्र्य के अभाव मे वह साधारण जनता को रुचिकर प्रतीत नही होती, इसलिए बहुत-से उपदेशक आध्यात्मिक तथ्यों की अभिव्यक्ति विविध प्रकार की चमत्कारपूर्ण शैलियों में करते रहे है। यह क्रम भारत-वर्ष मे ही नही अन्य देशो मे भी रहा है। भारतवर्ष में तो उलटवासी की परम्परा को विशेष महत्त्व दिया जाता रहा है। इन उलटवासियो में गूढतिगूढ तथ्यो की प्रतिष्ठा आदिकाल से की जाती रही है। ऋगवेद में भी बहुत-से ऐसे उदाहरण मिलते है जिनमें उलटवासी शैली का प्रयोग किया गया है। अग्नि सूत्रो मे उलटवासियो की भरमार है। उदाहरण के लिए हम दो-एक उक्तियाँ दे सकते है। एक स्थल पर लिखा है—"अग्नि अपने पिता का पिता है और जो उसे जानता है वह अपने पिता का पिता है।" एक दूसरे स्थल पर एक दूसरी उक्ति इस प्रकार है—"पुत्र होकर भी अग्नि अपनी माताओ को हव्य द्वारा जन्म देते है।" सहिताओ के बाद उपनिषदों मे भी उलटवासी के ढग की उक्तियाँ पाई जाती है। भूमिका में इनका सकेत किया गया है।

उलटवासियों की यह परम्परा सूत्र और शास्त्रकारो के समय में लुप्त-सी हो गई थी, किंतु तंत्रमत के प्रचार से इस परम्परा को पुनः बल मिला। सिद्धों और नाथो मे आकर इसका पूर्ण विकास हुआ। निर्गुणिया कवियो में यह परम्परा अपने विकास की पराकाष्ठा पर पहुँच गई। कबीर निर्गुणिया संतो के मुखिया थे, इसलिए इन उलट-वासियों की उनमें भरमार मिलती थी। कबीर की उलटवासियाँ अभि-व्यक्तिमूलक रहस्यवाद का प्राण है। इन उलटवासियों में अधिकतर किसी आध्यात्मिक सत्य की प्रतिष्ठा रहती है; उदाहरण के लिए हम

निम्नलिखित छोटी-सी साखी लेते है—

"नदियाँ जल कोयला भई, समुन्दर लागी आग।
मछी रूखा चढ गई, देख कबीरा जाग॥"

अर्थात् जब आत्म-तत्त्व रूपी समुद्र में ब्रह्म-प्रेम रूप की अग्नि प्रज्वलित हो जाती है तो कुप्रवृत्तियाँ रूपी नदियाँ जलकर खाक हो जाती है। मछली रूपी जीव ऊर्ध्वगामी हो जाता है। इस प्रकार कबीर को जागृतावस्था प्राप्त हुई। इसी प्रकार का एक दूसरा उदाहरण नीचे और दिया जाता है—

"कैसे नगरि करौं कुटवारी, चंचल पुरिष विचषन नारी॥
बैल वियाइ गाइ भई बांझ, बछरा दूहै तीन्यूं सांझ।
मकड़ी घरि माषी छछि हारी, मास प रीं चील्ह रखवारी॥
मूसा खेवट नाव बिलइया, मींडक सोवै साँप पहरइया।
नित उठिं स्याल स्यंघ सूं झूझै, कहै कबीर कोई विरला बूझै॥"

इस पद मे उन्होने गूढ़ आध्यात्मिक सिद्धान्तो की अभिव्यक्ति उलटबासियो के रूप मे की है। इसमे मानव-शरीर को नगर का प्रतीक माना गया है। साधक आत्मा उसका वर्णन करने वाली है। वह कहती है कि इस शरीर मे कैसे रहा जाय। इसका स्वामी मन और उसकी पत्नी इच्छा दोनो ही चपल और उच्छृङ्खल है। बैल रूपी अज्ञान नित्य-प्रति अपना विस्तार करता जाता है। सद्बुद्धि रूपी गाय नित्य-प्रति कल्याण-विधान की भावना से वियुक्त होती जाती है। काल रूपी बछड़ा मनुष्य-जीवन का यापन करता जाता है। माया रूपी मकड़ी के घर में कामना रूपी मक्खी फँसकर के जीवन को नष्टप्राय: करने लगती है। इस प्रकार मांस रूपी मनुष्य, माया रूपी चील को सौंप दिया गया है तब भला उसका कल्याण हो भी कैसे सकता है। जीव रूपी चूहा भवसागर रूपी समुद्र में शरीर रूपी नाव में वासना रूपी बिलैया

ये पद बडा ही जटिल और गूढ है। यद्यपि अन्तिम पक्तियो में विरोधात्मक बातों का कथन किया गया है। किन्तु इसका वास्तैविक सौन्दर्य मध्य पंक्तियों मे ही अन्तर्निहित है। गदहा चोलना पहनकर नाचता है, भैसा नृत्य करता है आदि बातें बड़ी ही चमत्कारपूर्ण और रोचक प्रतीत होती है। प्रतीकात्मक रूपक में बाँधे जाने के कारण ये अपना आध्यात्मिक अर्थ भी रखती है। किन्तु इस आध्यात्मिक अर्थ को स्पष्ट करना वास्तव मे टेढी खीर है। इस ढंग के पद कबीर मे बहुत मिलते है। इस प्रकार की उक्तियाँ अभिव्यक्तिमूलक रहस्यवाद से ही सम्बन्धित मानी जायँगी—

"केवल पारिभाषिक शब्दों के सहारे कुछ अस्पष्ट शैली में किसी अस्पष्ट तथ्य का कथन करना:—कबीर के अभिव्यक्तिमूलक रहस्यवाद की सृष्टि उन्होने एक दूसरे ढग से भी की है। वे विविध पारिभाषिक शब्दों के इन्द्र-जाल मे भी पाठकों की बुद्धि को फँसा लेते हैं। ये पारिभाषिक शब्द तत्कालीन विविध दर्शनो और साधनाओ से लिये गए है। इनमे से बहुत-से दर्शन और साधनाएँ अब बिलकुल लुप्त हो गई हैं। कही-कही पर उनका समझना इसीलिए कठिन हो जाता है। इनके अधिकांश पारिभाषिक शब्द हठयोग से लिए जान पड़ते है। यहाँ पर हम उदाहरण के लिए उनके कुछ हठयौगिक पारिभाषिक शब्द उद्धृत कर देना चाहते है—

बंकनाली—सुषुम्ना

मानसरोवर—सहस्रार मे स्थित मानसरोवर या अमृत कुण्ड

मूल—मूलाधार चक्र

सूरति—बहिर्मुखी जीवात्मा

निरति—अन्तर्मुखी प्रत्यगात्मा

अजपाजप—मानस जप का एक प्रकार; इसको अभी पीछे स्पष्ट कर आए है।

नाद — शब्द ब्रह्म

•बिन्दु — जीव-शक्ति

इस प्रकार के सैकड़ो पारिभाषिक शब्द कबीर में मिलते है। इनके पदो में प्राय: इन शब्दों की योजना पाई जाती है। किसी-किसी पद में एक साथ ही कई पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग किया गया है। ऐसे पदों को समझना बड़ा कठिन हो जाता है। इसीलिए हम उन्हें अभिव्यक्तिमूलक रहस्यवाद के अन्तर्गत मानते है—

"हिंडोलना तहँ भूलै आतमराम।
प्रेम भगति हिंडोलना सब संतान को विश्राम ॥
चंद सूर दुई खम्भवा बंक नालि की डोर।
भूलै पंचपियारियाँ तह भूलै जिय मोर ॥
द्वादस गम के अन्तरा तहाँ अमृत को बास।
जिनि बह अमृत चाखिया सो ठाकुर हम दास ॥
सहज सुनि को नेहरौ गगनमण्डल सिरमौर।
दोऊ कुल हम आगरी जो हम भूलै हिंडौल ॥
अरध उरध की गंगा जमुना मूल कँवल को घाट।
षटचक्र की गागरी त्रिवेणी संगम घाट ॥"

कबीर ने इस पद में चन्द सूर, बंकनालि सुन्नि, गगनमण्डल, गगा, जमुना, मूल कम्वल, षट्चक्र, त्रिवेणी आदि कई पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग एक साथ किया है। चूँकि ये शब्द हठयोग के है, अत: यह हठयौगिक रहस्यवाद और पारिभाषिक शब्दमूलक रहस्यवाद दोनो का उदाहरण है। ऐसा ही एक दूसरा उदाहरण यह है—

"मन के मोहन बिटुला, यह मन लागौ तोहि रे।
चरन कँवल मन मानिया और न भावै मोहि रे ॥ टेक ॥
षटदल कँवल निवासिया चहु को फेरि मिलाइ रे।
दहु के बीच समाधिया तहाँ काल न पासै आइ रे ॥

अष्ट कंवल दल भीतरा तँह श्री रंग केलि कराइरे ।
सद्गुरु मिलै तो पाइए नहिं तो जन्म अकारथ जाइ रें ॥
कदली कुसुम दल भीतरा तँह दस अंगुल को बीच रे ।
तहाँ दुआदस खोजि के जनम होत नांह मीच रे ॥
बंक नालि के अन्तरे पछिम दिसा की बाट रे ।
नीझर झरै रस पीजिए तहाँ भंवर गुफा के घाट रे ॥
त्रिवेणी मनाह न्हवाइए सुरति मिलै जो हाथि रे ।
तहाँ न फिरि मघ जोइए सनकादिक मिलिहैं साथि रे ॥
गरजि मघ जोइए तहाँ दीसै तार अनन्त रे ।
बिजरी चमकी घन वरसि है तह भीजत सब सन्त रे ॥
षोडस कंवल जव चेतिया तब मिलि गए बनवारो रै ।
जुरा मरण भ्रम भाजिया पुनरपि जनम निवारि रे ॥
गुरु गमिते पाइये झंखि मरै जिनि कोइ रें ।
तहाँ कबीरा रमि रहा सहज समाधि जोथरे ॥"

इस पद मे षटदलकँवल, अष्टकँवल, बकनालि, भँवरगुफा, त्रिवेणी, गगन, षोडस कँवल आदि पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग किया गया है। इस कारण तो इसमें अभिव्यक्तिमूलक रहस्यवाद है। यौगिक बातों का वर्णन होने के कारण यह हठयौगिक या साधनात्मक रहस्यवाद के अंतर्गत भी आता है। प्रारम्भिक पक्तियो में भावों की प्रधानता होने के कारण इसमें हम अनुभूतिमूलक रहस्यवाद की छाया भी पाते है।

यहाँ पर इस प्रकार के रहस्यवाद की व्यञ्जना करने वाले कुछ पारिभाषिक शब्दो और उनके अर्थों का उल्लेख कर देना आवश्यक है।

षट् कर्म—धौति, गजकरणी, वस्ति, नौलि, नेति, कपालभाति कोई कोई त्राटक समेत सात मानते है।

षट् चक्र—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत विशुद्ध और आज्ञाचक्र।

षोडस आधार—दाहिने पैर का अंगूठा, गुल्फ, गुदा, लिंग, नाभि, हृदय, कण्ठकूप, तालु मूल, जिह्वामूल, दन्तमूल, नासिकाग्र, भ्रूमध्य, नेत्र मण्डल, ललाट, मस्तक और सहस्राट।

योग के अष्टांग—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा ध्यान और समाधि।

पञ्च क्लेश—अविद्या, अस्मिता, राग द्वेष और अभिनिवेश इस प्रकार के सैकड़ो पारिभाषिक शब्द और प्रचलित हे। कबीर ने कभी-कभी इस ढंग के शब्दो के प्रयोग के सहारे पारिभाषिक शब्द-जनित रहस्यवाद की सर्जना की है। यहाँ पर इस प्रकार के रहस्यवाद के दो-एक उदाहरण दे देना अनुपयुक्त न होगा। देखिए निम्नलिखित साखी में कलाओं और विद्याओ का संकेत उनके समूह की संख्याओं के सहारे किया गया है।

"चौसठ दीवा जोय करि चौदह चंदा माँहि।
तिहि घर किसको चानिड़ो जेहि घर गोविन्द नाँहि॥"

अर्थात् मनुष्य चाहे चौसठ कलाओ मे निपुण हो और चाहे १४ विद्याओं मे पारंगत हो किन्तु गोविन्द ज्ञान के बिना वह अज्ञानी ही रहता है। उसका हृदय सच्चे ज्ञान से ज्योतित नही होता। यहाँ पर यदि चौसठ और चौदह का सांकेतिक अर्थ न विदित हो तो साखी समझ में नही आ सकती। अपनी इस जटिलता के कारण ही यह साखी अभिव्यक्तिमूलक रहस्यवाद के अन्तर्गत आती है। इस तरह के और बहुत-से उदाहरण कबीर में ढूंढे जा सकते है।

: ५ :

कबीर के रहस्यवाद की अभिव्यक्ति

रहस्यात्मक अनुभूतियाँ—रहस्यवाद का सौन्दर्य बहुत-कुछ उसकी अभिव्यक्ति पर आधारित रहता है। रहस्यवादी उस रहस्यमय से भावात्मक तादात्म्य अथवा प्रणय-सम्बन्ध स्थापित करने के लिए व्याकुल रहता है। इसी व्याकुलता की स्थिति मे वह प्रियतम का ध्यान करते-करते उसके प्रेम मे निमग्न हो जाता है। इसीको भाव-निमग्नता की स्थिति कहते है। इस भाव-निमग्नता की स्थिति मे साधक को रहस्यमय की ऐसी झाँकियाँ दिखाई पड़ती है, जिनका वह वर्णन नही कर सकता है। वह स्थिति वास्तव में अनिर्वेद्य होती है। इस बात को प्राच्य और पाश्चात्य सभी साधकों ने स्वीकार किया है। पाश्चात्य विद्वान् James ने अपनी रहस्यानुभुति की स्थिति का सकेत करते हुए लिखा है कि उसकी उस रहस्यमय की अनुभूति ठीक उसी प्रकार होती है जैसे कोई मस्तिष्क में गू जती हुई स्वर लहरी की होती है। स्वर लहरी के रस की अनुभूति तो होती है किन्तु उसका वर्णन नही किया जा सकता। उसके सम्बन्ध मे वह स्वय लिखता है—

"It is very vague and impossible to describe or put into words......Especially at times of moral crisis it comes to me, as the sense of an unknown something backing me up. It is most indefinite, to be sure rather, faint. And yet I

know if it should cease there would be great husha great void in my life."[1]

अर्थात् यह अनुभूति बड़ी धुंधली होती है। इसका वर्णन करना कठिन होता है। विशेषकर नैतिक पतन के अवसर पर रहस्यमय की यह अनुभूति मुझे प्रेरणा प्रदान करती है। यदि यह अनुभूति मुझसे छीन ली जाय तो मेरा जीवन शून्य रूप हो जायगा।

रहस्यवादी अनुभूति की श्रद्धामूलकता :—इस प्रकार की अनुभूति तर्कमूलक न होकर श्रद्धामूलक होती है। सत्य की अनुभूति वास्तव में श्रद्धा ही से हो सकती है Theologia Germaniea मे इस तथ्य को इस प्रकार प्रकट किया गया है "He who would know before he believeth, cometh never to true knowledge." अर्थात् वह जो किसी सत्य की अनुभूति के लिए ज्ञान का आश्रय लेता है वह उसकी अनुभूति नही कर पाता। उसकी अनुभूति वही कर सकता है जो श्रद्धा के सहारे उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। इस बात को स्पष्ट करने के लिए श्रुति में एक कथा दी हुई है। एक शिष्य अपने गुरु से ब्रह्म-सम्बन्धी प्रश्न पूछता है। गुरु अनेक तर्कों के सहारे उसे ब्रह्म का स्वरूप समझाता है। किन्तु वह सत्य का स्वरूप समझने में असमर्थ रहता है। इस पर गुरु बरगद के एक फल को लेकर शिष्य से उसे तोड़ने के लिए कहता है। शिष्य उसे तोड़ता है। उसमे गुठली निकलती है। वह उससे गुठली भी तोड़ने का आग्रह करते है। जब शिष्य गुठली तोड़ता है तो गुरुजी पूछते है इसके अन्दर क्या है। उत्तर में शिष्य कहता है इसमे कुछ नही है। इस पर गुरु ने उसे समझाया कि यदि कुछ न हो तो फिर इतना बड़ा वट-वृक्ष कैसे उत्पन्न होता। इसमे कुछ है अवश्य किन्तु वह तर्कसिद्ध

१. 'The Religious Philosophy of William James' by J. B. Pratt.

नही है। उसका ज्ञान श्रद्धा से ही हो सकता है। रहस्यवादी की अनुभूति भी श्रद्धा-समन्वित होती है। वह अपने प्रियतम के गुण रूप आदि के प्रति श्रद्धा करता है। यह श्रद्धा ही उसके भाव-लोक मे मूर्तिमान होती है वह उसीमे तन्मय रहता है। तर्क की पहुँच कुछ सीमाओ तक ही रहती है किन्तु श्रद्धा असीम को भी मूर्तिमान कर देती है। हमारी वाणी ससीम है। ससीम से असीम की अभिव्यक्ति नही हो सकती। किन्तु असीम की श्रद्धामूलक अनुभूतियो को, उनकी प्रेयता और श्रेयता के कारण बिना अभिव्यक्त किये भी रह सकता है। इसके लिए रहस्यवादी को अभिव्यक्ति की विविध प्रतीकात्मकप्रणालियो का आश्रय लेना पड़ता है।

रहस्यवादी की दृष्टिः—रहस्यवादी की दृष्टि भी सामान्य मानव से भिन्न होती है। रहस्यवादी की सबसे प्रधान विशेषता उसकी भावुकता है। यही प्रत्यक्ष मे अप्रत्यक्ष का आरोप करना सिखाती है। एक प्रत्यक्ष में आरोप भी द्विविध त्रिविध यहाँ तक कि चतुर्विध तक होता है। एक अँगरेज कवि ने इस प्रकार की दृष्टि का वर्णन करते हुए लिखा है—

"What to others is a trifle appears,
Fills me full of smiles or tears,
For double the vision my eye dose see,
And a doulbe vision is always with me.

With my inward eye, 'tis an old mangrey,
With my outward, a thistleacross my way,
Now I a four fold vision see,
And a four fold vision is given to me.

'Tis fourfold in my supreme delight,
And three fold in soft Beula's night,

And two fold always May God'us keep,
From single vision and Newton's sleep."

इस प्रकार इस अंग्रेज रहस्यवादी की दृष्टि कभी द्विमुखी, कभी त्रिमुखी और कभी चतुर्मुखी तक हो जाती थी। इसका कारण उसकी कल्पना थी। उसकी कल्पना ज्यों-ज्यों गतिवती होती जाती थी उसकी दृष्टि भी उतनी ही विस्तृत होती जाती थी। इस प्रकार की विविध दृष्टियो को एक साथ शब्दो में बाँधना बडा कठिन होता है। इसीलिए रहस्यवादी को विविध प्रकार की प्रतीक-प्रधान चमत्कारपूर्ण अभिव्यंजना की शैलियों को अपनाना पड जाता है।

रहस्यवाद की अभिव्यक्ति की विविध प्रणालियाँ—महात्मा कबीर ने अपनी रहस्यात्मक अनुभूतियों को व्यक्त करने के लिए विविध प्रकार की अभिव्यंजना-पद्धतियों का प्रयोग किया है। संक्षेप में वे इस प्रकार है—

(१) प्रतीक-पद्धति
(२) उलटवासी-पद्धति
(३) अलङ्कार-पद्धति

प्रतीक-पद्धति—अनभिव्यक्त को व्यक्त करने के लिए तथा व्यक्त को रहस्यमय बनाने के लिए प्रतीको का प्रयोग सभी देशों में अत्यन्त प्राचीन काल से होता आया है। विविध उदाहरण देकर हम निबन्ध का विस्तार नही करना चाहते है। यहाँ पर हम केवल महात्मा कबीर की प्रतीक पद्धति पर विचार करेंगे। महात्मा कबीर की प्रतीक-पद्धति एक ओर तो सूफियों से प्रभावित थी और दूसरी ओर गोरख पथियो से।

स्त्री का महत्त्व—सूफी रहस्यवादी साधकों ने दिव्य प्रेम को अपनी साधना में बहुत अधिक महत्त्व दिया है। लोक मे इस दिव्य प्रेम का प्रतीक स्त्री है। जलालुद्दीन रूमी ने उसके सम्बन्ध मे लिखा है—

"Woman is a ray of God,
She is not the earthly beloved.

She is creative, you night,
Say she is not created."[१]

"अर्थात् स्त्री ईश्वर-ज्योति की किरन है; वह लौकिक प्रेमिका-मात्र नहीं होती। वह सृष्टा भी है। हम यो कह सकते है कि उसकी सृष्टि ही नही की गई है।" यही कारण है सूफी साधको ने अपने दिव्य प्रेम की अभिव्यक्ति प्रेमी-प्रेमिका के प्रतीकों के सहारे की है। महात्मा कबीर ने भी इन प्रतीकों को अपनाने का प्रयत्न किया था। किन्तु मर्यादावादी भारतीय सन्त होने के कारण उन्होने उन्हे प्रेमी और प्रेमिका के रूप में न अपनाकर पति और पत्नी का रूप दे दिया है। कबीर के रहस्यवाद का प्राण वास्तव में यह दाम्पत्य-प्रतीक ही । पीछे प्रणय-तत्त्व का विवेचन करते समय हम दाम्पत्य-प्रतीको से युक्त सैकड़ों उदाहरण दे चुके है। यहा पर हम उनमे से दो-एक की दो-दो पक्तियां देकर इसको स्पष्ट कर देना चाहते है—

(i) *"हरी मेरा पीव मैं हरि की बहुरिया"*
(ii) *"बहुत दिनन थै मैं प्रीतम पाए,*
भाग बड़े घर बैटे आए।"

सूफी साधको ने आत्मा और परमात्मा के प्रणय भाव की अभिव्यक्ति नदी और समुद्र के प्रतीको से भी की है। जलालुद्दीन रूमी ने एक स्थल पर लिखा है—

"That which is of the sea, is going to the sea, it is going to the place whence it came. From the mountain the swift rushing torrent, and from our body the soul whose motion i in spired by love."[२]

१. निकलसनकृत अनुवाद।
२. वही।

महात्मा कबीर ने नदी और समुद्र के प्रतीकों के स्थान पर बूँद और समुद्र के प्रतीको से आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध की अभिव्यक्ति की है—

"हेरत हेरत हे सखी रह्या कबीर हिराय।
बुँद समानी समुँद में सोकत हेरा जाय॥"

हठयौगिक प्रतीक—महात्मा कबीर ने बहुत-से हठयोग के वर्णन प्रतीकों के सहारे ही लिखे है। इन प्रतीकों की प्राप्ति कबीर को गोरखपन्थियों से हुई थी। गोरखपथियों ने ब्रह्मरन्ध्र के लिए शून्य का प्रतीक प्रयुक्त किया है। गोरखनाथ लिखते है—

"अजपा जपै सुनि मन धरें", इत्यादि। ·

महात्मा कबीर ने भी सुन्न को ब्रह्मरूप का प्रतीक माना है।

इसी प्रकार संहस्रार के लिए गगन-मंडल और ब्रह्मरन्ध्र के लिए 'औंऊधा कूवा' का प्रयोग गोरखनाथ तथा कबीर दोनो ने किया है। गोरखनाथ लिखते है—

"गगन मंडल में औंधा कूँवा तह अमृत का वासा"

कबीर कहते है—

"आकासे मुख औंधा कुँवाँ पाताले पनिहारि"

इसी प्रकार कबीर ने नाथपंथियो के और भी बहुत-से प्रतीक अपनाए है। सिद्धो के कुछ प्रतीक भी उन्होने ज्यों-के-त्यों ग्रहण कर लिए थे, जैसे देखिए तन्तिपा की निम्नलिखित पक्तियो ने ज्यो-का-त्यो ग्रहण कर लिया है—

"बदल बिआएल गविया बाँझे पिटा दुहिए इतना साँझे।"

इसीका रूप बदल कर कबीर कहते है—

"बैल बियाय गाइ भई बाँझ,
बछरा दूहै तीन्यो साँझ।"

इस प्रकार स्पष्ट है कि कबीर सिद्धों और नाथों की प्रतीक-पद्धति

से प्रभावित है।

कबीर ने बहुत-से प्रतीक हठयोग के ग्रथो से भी ग्रहण किये थे। 'हठयोग प्रदीपिका' में पिगला नाडी का सूर्य और इड़ा नाड़ी का चन्द्र के प्रतीक से वर्णन किया गया है—

"प्राण सूर्येण चाकृष्य पूरयेदुदरं शनैः।
विधिवत्कुम्भक कृत्वापु नश्चन्द्रेण रेचयेत् ॥"

सूर्य और चन्द्र के प्रतीको को स्पष्ट करते हुए टीका में इस प्रकार लिखा है *"सूर्येण सूर्यनाड्या पिगलया"* इसी प्रकार 'चन्द्रेण' को स्पष्ट करते हुए लिखा है—*"चन्द्रेण इड़या"*। कबीर ने भी बहुत से स्थलों पर इड़ा और पिगला के लिए चन्द्र और सूर्य के प्रतीक अपनाए हैं।

यौगिक ग्रन्थो मे सख्यामूलक प्रतीको की भी योजना मिलती है। उदाहरण के लिए 'त्रिशिख ब्रह्मणोपनिषद्' में लिखा है—

"यद्यष्टादश भेदेषु मर्मस्थानेषु धारणम्।
स्थानात् स्थानं समाकृष्य प्रत्याहारः स उच्यते ॥"

अब यहाँ पर यदि अष्टादश मर्म स्थानों का नाम ज्ञात न हो तो बात अस्पष्ट ही रह जायगी। कबीर ने १८ के स्थान पर सोलह मर्म स्थान माने हैं। अन्य यौगिक ग्रन्थो मे १६ ही माने गए है। उनकी अभिव्यक्ति उन्होने *'सोरह मधे पवन झकोरिया'* लिखकर की है। इस प्रकार सख्यावाचक प्रतीकों का प्रयोग कबीर ने विविध प्रकार से किया है।

महात्मा कबीर ने कुछ भौतिक प्रतीको की भी कल्पना की है। सात्विक प्रेम की अभिव्यक्ति के लिए उन्होने बालक और माँ के प्रतीको को अपनाया है।

"हरि जननी मैं बालक तेरा"

कबीर मे मौलिक प्रतीको की कमी नही है। देखिए उन्होंने निम्नलिखित साखी में नदी के प्रतीक कुप्रवृत्तियों का सकेत किया है तथा ब्रह्म के लिए समुद्र का प्रतीक कल्पित किया है—

"नदिया जल कोयला भई समुन्दर लागी आग।
मंछी रूखा चढ़ गईं देख कबीरा जाग॥"

इसी प्रकार देखिए निम्नलिखित साखी में जोगी को आत्मा का प्रतीक कल्पित किया गया है। तथा झूल विरह की द्योतक है। खप्परा' शरीर का बोधक माना जा सकता है विभूति मिट्टी के लिए प्रयुक्त हुआ जान पड़ता है—

"झल उठी झोली जली खपरा फूटिम फूट।
जोगी था सो रमि गया आसणि रही विभूति॥"

इसी प्रकार कबीर ने अपने रहस्यवाद की अभिव्यक्ति विविध प्रकार के प्रतीको के सहारे की है। उन सबका उल्लेख किया जाय तो एक पोथा बन जायगा।

उलटवासियाँ :—कबीर ने अपने रहस्यवाद की अभिव्यक्ति, उलटवासियो के सहारे भी की है। उलटवासियो की परम्परा भी बहुत प्राचीन है। अनिवेद्य रहस्यात्मक गूढ़ बातें ऋग्वेदिक काल से लेकर आज तक उलटवासियों में ही कही जाती रही है। कबीर को सिद्धों और तान्त्रिको तथा सूफियों से उलटवासियों की परम्परा मिली थी। उस परम्परा को उन्होने अपनी प्रतिभा के बल पर विकसित किया था। कबीर की उलटवासियाँ अधिकतर विरोधमूलक अलंकारो के सहारे खड़ी की गई है विरोधमूलक अलकारों मे सबसे प्रधान विभावना, विरोधालंकार, असंगति, विशेषोक्ति, विषम, विचित्र अधिक व्याघात आदि प्रमुख है। कबीर का अभिव्यक्तिमूलक रहस्यवाद अधिकतर अलंकारो के सहारे विकसित हुआ है। निम्नलिखित रहस्यात्मक बेलि का वर्णन देखिए—

"आगैं आगैं धौं जलैं पीछै हरिया होय।
बलिहारि ता विरख की जड़ काटया फल होय॥"

"जे काटौ तौ डहडही सीचौ तो कुम्हिलाय,
इस गुणवती बेली का कुछ गुण कहा न जाय ॥"

उपर्युक्त साखियो मे उलटवासी की योजना विशेषोक्ति विभावना और विरोध के संकर से की हुई जान पडती है।

कही-कही उलटवासियो की योजना प्रतीकों के सहारे भी की गई है। एक जगह वे लिखते हैं—

"कहणीं रहणी निज तत जाणै।
बहु सब अकथ कहाणी।
धरती उलटि अकासहि ग्रासै,
यहु पुरिषा की बाणी॥
बाझ पियालै अमृत सो सोख्या,
नदी नीर भरि राष्या।
कहै कबीर ते विरला जोगी,
धरणि महारस चाख्या॥"

इन पंक्तियो मे धरती मूलाधार का प्रतीक और अकास ब्रह्मरन्ध्र का प्रतीक माना गया है। इन दोनो प्रतीको के प्रयोग से *"अकथ कहाणी"* कही गई है।

बहुत-से स्थलो पर उलटवासिओ की सर्जना रूपकात्मक प्रतीकों के सहारे की गई है। निम्नलिखित उदाहरण में देखिए रूपकात्मक प्रतीको के सहारे रहस्यवाद की सृष्टि की गई है—

"अवधू सो जोगी गुरु मेरा, जो या पद का करै निबेरा।
तरवर एक पेड़ बिन टाढा बिन फूला फल लागा॥
साखा पत्र कछू नहिं वाके अष्ट गगन मुख बागा।
पैर बिन निरतिकरां बिन बाजै जिभ्या हीणां गावै।
गावणहारे के रूप न रेखा सत गुरु होय लखावै॥"

उपर्युक्त पद में तरुवर का प्रतीकात्मक रूपक उलटवासी के रूप में

खड़ा किया गया है।

प्रतीकात्मक रूपक-प्रधान उलटवासियाँ :—कहीं-कहीं कबीर ने प्रतीकात्मक रूपक-प्रधान उलटवासियो की सृष्टि अद्भुत रस के परिपाक के सहारे की है। निम्नलिखित पद ऐसा ही है—

"ऐसा अदभुत मेरे गुरु कथ्या, मैं रहया उभेषै।
मूसा हस्ती सो लड़ै कोई विरला पैखै॥
मूसा पैठा वाम्वि में लारै सापणि धाई।
उलटि मूसै सापणि गिली यह अचिरज भाई॥
चीटी परबत उषण्यां ले राख्यौ जोड़ैं।
मुर्गा मिनकू सू लड़ै, झल पाणी दौड़ैं॥
सुरही चूँषै बछतलि बछा दूध उतारैं।
ऐसा नवल गुणी भया सारदूलहि मारै॥
भील लुक्या बन बीझ में ससा सर मारै।
कहैं कबीर ताहि गुरु करौ जों यह पदहि बिचारैं॥"

कबीर में प्रगल्भ उलटवासियों की कमी नही है। वे प्रत्यक्ष विरोधी और असम्भव बात सीधे-सादे ढग से कहते हैं—

"बिटिया ने बाप जायो।"

अथवा

"बाँझ का पूत पिता बिन जाया।" इत्यादि

इस प्रकार कबीर के रहस्यवाद की अभिव्यक्ति मे उलटवासियों ने बड़ा योग दिया है।

कबीर के रहस्यवाद की अभिव्यक्ति में अलङ्कारों का महत्त्व—अभिव्यक्ति को चमत्कारो और बल प्रदान करने में अलंकार बहुत अधिक सहायक होते है। भामह ने अलंकार की परिभाषा देते हुए लिखा है—

"वक्राभिधेय शब्दोक्तिरिष्टा वाचमलंकृति।"

अर्थात् शब्द और अर्थ का वैचित्र्य ही अलंकार है। वामन ने

'सौंदर्यमलङ्कारः' कहकर अभिव्यक्ति-सौदर्य को ही अलंकार कहा है। रुद्रट लिखता है *'अभिधान प्रकार विशेषा एव अलंकाराः'* अर्थात् अभिव्यक्ति की विशेष प्रणालियाँ ही अलंकार कहलाती हैं।

रूपक :—रहस्यवाद में अभिव्यक्तिमूलक चमत्कार भी पाया जाता है। यही कारण है कि रहस्यवादी कबीर ने अलंकारो का भी आश्रय लिया है। उनके रूपक लोक-प्रसिद्ध है। विद्वत्समाज में जिस प्रकार कालिदास की उपमाएँ प्रसिद्ध हैं, उसी प्रकार कबीर के रूपक भी प्रसिद्ध हैं। रूपक उनके रहस्यवाद का सर्वस्व है। उनके रूपक विविध आधारो को लेकर खड़े किये गए है। यहाँ पर उनके कुछ रूपको पर संक्षेप मे संकेत कर देना अनुपयुक्त न होगा।

हठयौगिक रूपक :—कबीर योगी सत थे। हर समय हठयोग का चर्चा और अभ्यास करने के कारण उनकी बुद्धि हठयौगिक रूपको की ओर अधिक जाती थी। यहाँ कुछ हठ यौगिक रूपकों का उल्लेख कर देना आवश्यक हैं। एक प्रसिद्ध रूपक इस प्रकार है—

"बंधचि बंधनु पाइया।
मुकतै गुरि अनल बुझाइया॥
जब नख सिख यहु मन चीन्हा।
तब अन्तर मंजनु कीन्हा।
पवन पति उन्मनि रहनु खरा।
नहीं मिरतु न जनम जरा॥
उलटीले सकति सहारं।
पैसीले गगन मझारं॥
बेधी अले चक्र भुअगा।
भेटी अले राइ निसंगा॥
चुकी अले मोह भइ आसा।
ससि कीनो सूरगिरासा

जब कुंभकु भरि पुरि लीणा ।
तह बाजे अनहद बीणा ॥
बकतै बकि सबदु सुनाइया ।
सुनतै सुनि मंनि बसाइआ ॥
करि करता उतरसि पार ।
कहै कबीरा सार ॥

इस पद मे हठयोग का रूपक बाँधा गया है इसे स्पष्ट करते हुए डा० रामकुमार वर्मा ने निम्नलिखित साकेतिक सुलझाव दिए है—

पवन पति होना = प्राणायाम ।
प्रवृत्तियो को रोककर उलटना = प्रत्याहार ।
आकाश में गमन = ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश
चक्रवेध = षट् चक्रो की सिद्धि ।
भुजंग को वशीभूत करना = कुण्डलिनी की साधना करना ।
एकाकी राजा का सत्संग = ब्रह्मानुभूति ।
चन्द्र द्वारा सूर्य का ग्रास = सहस्र दल कमल के चन्द्र की सुधा से मूलाधार चन्द्र के सूर्य के विष का शोषण ।
कुम्भक=प्राणायाम मे सांस रोकना
अनहद वीणा=अनाहत नाद

कबीर में इस ढग के हठयौगिक रूपक बहुत पाए जाते है । इनसे उनका हठयौगिक रहस्यवाद सम्पन्न है ।

प्रकृतिपरक रूपक—कबीर का जीवन प्रकृति की क्रोड़ में पला था । उनकी दृष्टि मे प्रकृति परिव्याप्त हो गई थी । यही कारण है कि उनके अधिकांश रूपक प्रकृति के पदार्थों या स्वरूपों को लेकर खड़े किये गए हैं । आँधी का यह रूपक दृष्टव्य है—

"देखो भाई ज्ञान की आई आँधी ।
सभै उड़ानी भ्रम की टाटी रहै न माइया बाँधी ॥
दुचिते की दुई थूनि गिरानी मोह बलेड़ा टूटा ।
तिसना छानि परी घर उपरि दुरमति भौड़ा फूटा ॥
आँधी पाछै जो जलु वरखै तिहि तेरा जनु भीना ।
कहि कबीर मन भाइआ प्रगासा उदै भानु जब चीना ॥"

इसमे आँधी का रूपक बाँधा गया है। इसमे क्रमश आँधी ज्ञान के के लिए, भ्रम के लिए, 'थूनी', द्विविधा के लिए, 'बलेडा', मोह के लिए, 'छानी', तृष्णा के लिए, 'भोडा' दुर्मति के लिए, 'जल' अनुभूति के लिए, प्रकाश सहज के लिए और भानु ईश्वरीय ज्योति के लिए प्रयुक्त हुए है।

इसी ढग के और बहुत-से रूपक कबीर मे पाए जाते है। समुद्र, सरोवर, वर्षा आदि रूपक तो उनमे स्थल-स्थल पर मिलते है।

प्रकृति के जीवों को लेकर भी कबीर ने अपने रूपक कल्पित किये है। सर्प या सर्पिणी के रूपक हरिण का रूपक हाथी के रूपक उनमे बहुत पाए जाते है।

पशु पक्षियो आदि से सम्बन्धित रूपक अधिकतर आकार मे छोटे होते है। दो-एक रूपको के उदाहरणों से बात स्पष्ट हो जायगी। हरिण का रूपक देखिए—

"कबीर हरना दूबला यह हरिआरा तालु ।
लाख अहेरी एक जिउ, केता बंचऊ कालु ॥"

इसी प्रकार सर्प का यह दूसरा रूपक देखिए—

"कबीर विरह भुयगमु मन बसै मेतु न मानै कोई ।
नाम वियोगी न जीअै-जीअै ता बउरा होय ॥"

कबीर जो रूपक प्रतीको का आश्रय लेकर चले है वे जीव-जन्तुओं से सम्बन्धित होते हुए भी थोड़ा दीर्घकाय है। देखिए निम्न लिखित

प्रतीकात्मक रूपक दीर्घकाय होते हुए भी बहुत सफल कहा जायगा।

"सरपनी ते ऊपर नहि बलीआ ।
जिन ब्रह्मा विष्नु महादेव छलिया ॥
मारु मारु सर्पनी निरमल जल पैठी ।
जिनि त्रिभवणु उसी अले गुरु प्रसादि दीठी ॥"
"स्रपनी स्रपनी किया कहउ भाई ।
जिन साचु पछानिआ तिनि स्रपनी खाई ॥
स्रपनी ते आन छूछ नहि अवरा ।
स्रपनी जीती कहा करै जमरा ॥"
"इह स्रपनी ता की कीती होई ।
बलु अवलु किआ इस ते होई ॥
इह बसती ता बसत सरीरा ।
गुरु परसादि सहजि तरे कबीरा ॥"

वयन-व्यवसाय से सम्बन्धित रूपक—कबीर जाति के जुलाहे थे। जुलाहे के घर में रहकर उन्होने वयन-व्यवसाय का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया था। यही कारण है कि उनके रहस्यवाद मे हमे जुलाहो की बातों को लेकर बाँधे गए रूपको की भरमार मिलती है। इस प्रकार के रूपक वास्तव मे बहुत कठिन है। इसका प्रमुख कारण है कि वयन-प्रक्रिया की जिन सूक्ष्माति सूक्ष्म बातो का वर्णन उन्होने किया है उनसे साधारण समाज परिचित नही है। जुलाहे के निम्नलिखित छोटे-से रूपक म ही देखिए एकाध शब्द ऐसा आगया जिसका ज्ञान साधारण समाज को नही होता—

"कोरी को काहू मरमु न जाना ।
सभुजग आनि तनाइओ ताना ॥
जब तुम सुनि ले वेद पुराना ।
तब हम इतन कु पसारिओ ताना ॥

धरनि अकास की करगह बनाई।
चंद सुरज दुई साध चलाई॥
पाई जोरि बात इक कीनी वह तांती मनु मानां।
जोलाहे घरु अपना चीन्हा घर ही राम पछानां॥
कहत कबीर कारगह तोरी।
सूतै सूत मिलाए कोरी॥"

इस सरल से रूपक को ही समझना कठिन हो जाता है इस कोटि के अन्य रूपक तो और भी कठिन है। इन रूपको मे गूढ आध्यात्मिक सिद्धान्त प्रतिष्ठित किये गए है। अभिव्यक्ति की दुरूहता के कारण ही ये अभिव्यक्तिमूलक रहस्यवाद के अन्तर्गत आते है।

अरूप तत्त्वों के रूपक :—कबीर ने अपने बहुत से रूपक अरूप तत्त्वो को लेकर कल्पित किये है। इस प्रकार के रूपको में माया का रूपक बहुत प्रसिद्ध है—

खसम मरै तऊ नारि न रोवै।
उप रखवारा औरै होवै॥
रखवारे का होय बिनास।
आगे नग्क ईहा भोग विलास॥"[1]

इत्यादि।

कबीर ने बहुत-सी जीवन की स्थितियों और घटनाओं को लेकर भी अपने रूपक कल्पित किये है। जीवन की सबसे मनोरम परिस्थिति विवाह है। रहस्यवाद वास्तव मे आत्मा और परमात्मा के विवाह की ही कहानी है। कबीर ने विवाह की परिस्थिति को लेकर बड़े-बड़े सुन्दर एव रहस्यपूर्ण रूपक बांधे। देखिए आत्मा और परमात्मा के मिलन की अवस्था का वर्णन विवाह के रूपक के सहारे कितते सुन्दर ढग से किया गया है—

---

१. देखिए राग गौड़ी ७ सन्त कबीर।

"दुलहनी गावहु मंगल चार।
हम घर आये हो राजो राम भरतार॥
तन रत करि मै मन रति करहुं पञ्च तत बराती।
राम देव मोरे पाहुने आए मैं जौवन मद माती॥
सरीर सरोवर वेदी करि है ब्रह्मा वेद उचार।
राम देव संग भावरि लेहू धनि धनि भाग हमार॥
सुरतैतीस कौतिग आए मुनिअर सहस अठासी।
कहैं कबीर हम व्याहि चले पुरिष एक अविनासी॥"

इतने सागरूपक की कल्पना करना कबीर-जैसे प्रतिभाशाली का ही काम है। वास्तव मे कबीर रूपक योजना मे बडे निपुण थे। उनके रहस्य-वाद का सौदर्य इन रूपकों से बहुत बढ गया है।

अन्योक्तियाँ:—रूपको के अतिरिक्त रहस्यवाद की अभिव्यक्ति मे कबीर ने अन्योक्तियो का भी आश्रय लिया है रहस्य-भावना की अभि-व्यक्ति में अन्योक्तियो और समासोक्तियो का प्रयोग बहुत प्राचीन काल से होता आया है। प्रस्तुत का वर्णन अप्रस्तुत के सहारे करना ही अन्यो-क्तियाँ है। कबीर का प्रमुख प्रतिपाद्य अध्यात्म ही रहा है। उन्होने स्वयं कहा भी है। *'लोग जाने' यह गीत है यह तो ब्रह्म विचारं।*

इस ब्रह्म-विचार की अभिव्यक्ति के लिए कबीर ने अन्योक्तियो को भी अपनाया था, किन्तु अन्योक्तियो को हम उनकी प्रिय अभिव्यञ्जना-प्रणाली नही कह सकते। उनमे शुद्ध अन्योक्तियो का अभाव है। उनकी अन्योक्तियाँ अधिकतर प्रतीकात्मक एवं रूपकात्मक है। उदहरण के लिए हम निम्न लिखित पद दे सकते है—

"काहे री नलनी तू कुमिलानी।
तेरे ही नालि सरोवर पानी॥
जल में उत्पत्ति जल में वास जल में नलनी तोर निवास॥
ना तलि तपति न ऊपरि आगि, तोर हेत कहु कासन लागि।

कहै कबीर जे उदिक समाँन, ते नहीं मुए हमारे जान ॥"

इस पद में प्रतीक-प्रधान अन्योक्ति की योजना की हुई जान पड़ती है। कबीर की अन्योक्तियाँ अधिकतर इसी ंग की हैं। कबीर में ढूँढने से कुछ समासोक्तियाँ चाहे मिल जायँ। किन्तु समासोक्ति उनका प्रिय अलंकार नही था। अन्योक्तियो और समासोक्तियो के अतिरिक्त उनमे और भी बहुत अलकार मिलते हैं किन्तु विरोधमूलक अलकारों को छोड़कर, जिनकी चर्चा हम उलटवासियो के प्रसंग में कर चुके है उनमें से किसी का रहस्यवाद से सम्बन्ध नही हैं। इसीलिए यहाँ पर उनका उल्लेख करना व्यर्थ है।

: ६ :

विशेषताएँ

यौगिकता:—उपर्युक्त विवेचन से कबीर के रहस्यवाद का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। अब हम उसकी कुछ सामान्य विशेषताओ पर विचार कर लेना चाहते है। कबीर के रहस्यवाद की सबसे प्रधान विशेषता उसकी यौगिकता है। कबीर के योगी ने उनके रहस्यवादी को बुरी तरह से दबोच रक्खा है। यही कारण है प्रणय-प्रधान भावात्मक रहस्यवाद भी उनके यौगिक वर्णनो से मुक्त नही हो सका है। देखिए उनका प्रेम-भगति हिंडोलना' भी पूर्ण यौगिक ही है—

"हिंडोलना तहँ भूलै आतमराम।
प्रेम भगति हिंडोलना सब संतनि को विश्राम॥
चन्द सूर दोइ खम्भवा बक नालि की डोरि।
भूलै पंच पियारियाँ तहँ भूलै जिय मोर॥
द्वादस राम के अन्तरा तहँ अमृत को बास।
जिनि यह अमृत चाखिया सो ठाकुर हम दास॥
सहज सुनि को नेहरो गगन-मण्डल सिरमौर।
दोऊ कुल हम आगरी जो हम भूलें हिंडोल॥"[1]

इसी प्रकार देखिए मुग्धा नवोढा की मिलन की पूर्व की भावनाओ का वर्णन करते है किन्तु उनका पर्यवसान योग मे कर देते है।

"थर हर कम्पै बाला जीव
न जाने क्या करसीं पवी।

---

१. 'कबीर ग्रन्थावली', पृष्ठ ९४।

रैनि गई मति दिन भी जाय ॥"[१]

सर्वव्यापकता :—कबीर का रहस्यवाद बडा ही व्यापक और सर्वतोमुखी है। उसमें रहस्यवाद के सभी स्वरूप सभी प्रक्रियाएँ अपनी बहुलता मे मिलती हैं। रहस्यवाद की अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी प्रक्रियाओ का सकेत कबीर में ऊपर कई बार किया जा चुका है। यहाँ पर हम यह दिखला देना चाहते है कि कबीर मे रहस्यवाद के सभी प्रकारो की झाँकी भी मिलती है। स्पर्जन नामक विद्वान् ने रहस्यवादियों के इन प्रमुख पाँच भेदों का उल्लेख किया है —

(1) Love mystics

अर्थात् प्रेमवादी रहस्यवादी।

(2) Beauty mystics.

सौन्दर्यवादी रहस्यवादी।

(3) Nature mystics.

प्रकृतिवादी रहस्यवादी।

(4) Philosophical mystics.

दार्शनिक रहस्यवादी।

(5) Devotional or Religious mystics.

भक्त और धार्मिक रहस्यवादी।

प्रेमवादी रहस्यवादी कवियो मे अग्रेज कवि शेली और ब्राउनिंग बहुत प्रसिद्ध है। इन प्रेमवादियो का लक्ष्य प्रेम के सहारे आत्मा और परमात्मा का तादात्म्य स्थिर करना है। स्पर्जन ने प्रेमवादियो मे प्रेम की मान्यता के सम्बन्ध मे यही बात लिखी है—

"They look upon love as the solution of the mystery of life, as the link between god and man"

---

१. सं० क०, पृष्ठ १४८।

अर्थात् प्रेमवादी रहस्यवादी प्रेम को जीवन की रहस्यात्मकता का सुलझाव समझते है। दूसरे शब्दों मे उनके मतानुसार आत्मा और परमात्मा को मिलाने वाला तत्त्व प्रेम होता है। कबीर प्रेमवादी रहस्यवादियो के सदृश्य प्रेम को ही प्रियतम से मिलाने वाला तत्त्व मानते थे। यह प्रेम तत्त्व उन्हे गुरु-मत्र के रूप मे मिला था—

"गुरु ने प्रेम का अक पढ़ाय दिया रे"

इस प्रेम ने कबीर की आत्मा पवित्र कर दी थी—

"कबीर बादल प्रेम का हम पर बरस्या आय।
अंतरि भीगी आत्मा हरी भई बनराय॥"

कबीर ने प्रेम-सम्बन्ध को लेकर बड़े मनोरम चित्र खीचे है। इनका वर्णन हम पीछे कर चुके हैं। यहाँ अकारण विस्तार नही करना चाहते।

प्रकृति-सम्बन्धी रहस्यवादी प्रकृति मे रहस्यानुभूति करता है। अग्रेजी कवि बायरन और वर्ड्सवर्थ ऐसे ही रहस्यवादी थे। कबीर की बहुत-सी रचनाएँ प्रकृतिपरक रहस्यवाद के अन्तर्गत आती हैं। उनका यह प्रकृतिपरक रहस्यवाद दो प्रकार का है। एक तो वह, जिनमें उन्होने प्रकृति का प्रयोग रूपको के अन्तर्गत किया है, दूसरे वह जहाँ प्रकृति सदेश-वाहक के रूप मे दिखाई पड़ती है। उनके आँधी आदि के रूपक प्रथम कोटि के है। द्वितीय कोटि का छोटा-सा उदाहरण इस प्रकार है—

"माली आवत देखकर कलिया करी पुकार।
फूली फूली चुन लई काल्हि हमारी बार॥"

इतना स्वीकार करने में हमे सकोच नही है कि कबीर ने प्रकृति का प्रयोग बहुत कम किया है और जहाँ कही किया भी है वहाँ वह प्रतीक के रूप में अधिक है। मानवीकरण के रूप मे भी कबीर नें प्रकृति परक रहस्यवाद को अछूता नही छोड़ा है।

कबीर प्रधान रूप से दार्शनिक रहस्यवादी मालूम पड़ते है। दार्शनिक रहस्यवादी की सारी विशेषताएँ उनमे मिलती है। दार्शनिक रहस्य-

वादी के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए स्पर्जन ने लिखा है—

"The mystical sense may be called philosophical in all those writers. Who present their convictions in a philosophic form calculated to appeal to the intellect as well as to the 'emotions. These writers as a rule, though not always, are themselves markedly intellectual and their primary concern therefore is with truth."

अर्थात् रहस्य-भावना, दार्शनिक तब कही जायगी जब ये लेखक अपनी धारणाएँ इस ढंग से सामने रखते हैं कि वह बुद्धि और भावना दोनों को समान रूप से प्रभावित करे। ऐसे लेखक अधिकतर प्रत्यक्ष रूप से बुद्धिवादी होते हैं और उनका मूल सम्बन्ध सत्य से होता है। महात्मा कबीर की अधिकाश उक्तियाँ उपर्युक्त कथन की सत्यता प्रमाणित करती है। दो-एक उदाहरणो का फिर पिष्टपेषण किये देते हैं। एक लोक-प्रसिद्ध उदाहरण यह है—

"लाली मेरे लाल की, जित देखौं तित लाल।
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल॥"

दूसरा बहुत प्रसिद्ध उदाहरण है—

"जल में कुम्भ कुम्भ में जल है,
बाहर भीतरि पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहिं समाना,
यह तत कथ्यौ गियानी॥
आदै गगना अन्ते गगना मध्ये गगना भाई।
कहै कबीर करम किस लागे, झूठी संक उपाई॥"

इस प्रकार स्पष्ट है कि कबीर में दार्शनिक रहस्यवाद की भी अच्छी झाँकी मिलती है।

चौथी कोटि धार्मिक रहस्यवादियो की होती है। जैसा कि स्पर्जन ने लिखा है। रहस्यवादी सभी धार्मिक होते है, किन्तु धार्मिक रहस्यवादी उसे कहेंगे जो किसी धार्मिक पद्धति की ओर बहुत अधिक झुका हुआ हो। कबीर अपनी कुछ रचनाओ के प्रकाश मे धार्मिक रहस्यवादी भी मालूम पड़ते है। उनका वैष्णव धर्म और वैष्णवी भक्ति की ओर बहुत अधिक झुकाव था। *'मेरे संगी दुइ जना एक वैष्णो एक राम'* कहकर उन्होने यही बात प्रकट की है। उनके धार्मिक रहस्यवाद मे उनका भक्त-स्वरूप प्रधान हो गया है, दार्शनिक और योगी-स्वरूप गौण। उनके धार्मिक रहस्यवाद के सैकड़ों उदाहरण उनकी रचनाओं में ढूँढे जा सकते है। इस प्रकार हम देखते है कि कबीर को हम किसी भी कोटि मे नही बाँध सकते। उन्होने रहस्य-भावना की सभी सीमाओ को, सभी मार्गों को, सभी प्रणालियो के छूने का प्रयत्न किया था। यदि हम कोटिबद्ध करना ही चाहे तो प्रेममूलक योगी, भक्त दार्शनिक रहस्यवादी कह सकते है। इतना कहने से भी उनके स्वरूप की समष्टिमूलकता प्रकट होती है। उनकी इस समष्टिमूलकता का मूल कारण यह था कि उनके व्यक्तित्व मे सब-कुछ आत्मसात् करने की विचित्र शक्ति थी।

कबीर का रहस्यवाद सूफी रहस्यवादी कवियो की अपेक्षा कही अधिक भारतीय है। हम प्रणय-भाव का विवेचन करते समय उनकी मर्यादाप्रियता की ओर सकेत कर चुके है। भारतीय अद्वैतवाद को तो उन्होने ज्यों-का-त्यो स्वीकार कर लिया था। किन्तु उसकी अभिव्यक्ति उन्होने अपने ढंग पर की है, इसलिए वह मौलिक प्रतीत होता है। भारतीय आदर्शों को कबीर ने बड़े उत्साह के साथ ग्रहण किया था। उनके रहस्यवादी प्रेम-भाव का आदर्श भारतीय सती और भारतीय सूर है। कबीर ने भारतीय अध्यात्मवाद के अनुसार ही माया की मान्यता स्वीकार की। उन्होने सूफियो की भाँति कही भी रहस्यानुभूति या प्रियतम-मिलन में शैतान को बाधक नही माना है।

व्यष्टिमूलकता.—कबीर का रहस्यवाद व्यष्टिमूलक और वैयक्तिक है। वह वास्तव मे कबीर की चिन्तनामूलक स्वानुभूति का परिणाम है। कबीर के रहस्यवाद मे समाज के प्रति सहानुभूति की भावना भी पाई जाती है। उनकी इस सहानुभूति ने ही उनके रहस्यवादी व्यक्तित्व को लोक-सग्राहक भी बना दिया है। अपनी इन्हो विशेषताओं के कारण उनका रहस्यवाद इतना प्रभावपूर्ण और भावमय प्रतीत होता है। वास्तव मे वे हमारी भाषा के अप्रतिम रहस्यवादी कवि है। उनका रहस्यवाद हिन्दी-साहित्य के लिए अनुपम देन है।

व्यष्टिमूलक होते हुए भी कबीर का रहस्यवाद निष्क्रिय और निर्जीव नही था। वह एकान्तिक भी नही कहा जा सकता। उसमे मानव को मानवता की प्रेरणा देने की विचित्र क्षमता थी। उसमे निर्जीवो मे नवप्राण संचार करने का अलौकिक गुण था। इसने भारत का बहुत बड़ा उपकार किया । मूर्छित मध्य युग के लिए वह सच्ची सञ्जीवनी था।

जायसी का रहस्यवाद

: १ :

जायसी का आध्यात्मिक रहस्यवाद

सामान्य परिचय—जायसी हिन्दी-साहित्य के श्रेष्ठ रहस्यवादी कवि है। भारतीय रहस्यवाद तथा फारसी रहस्य-भावना के सुन्दर सुहाग से उद्भूत जायसी का रहस्यवाद हिन्दी-साहित्य के लिए महाकवि की महान देन है। भारत मे रहस्यवाद की दो प्रमुख धाराएँ दिखाई पडती है। एक उपनिषद् के रहस्यवाद की, और दूसरी यौगिक रहस्यवाद की। जायसी का रहस्यवाद भारतीय रहस्यवाद की इन दोनो धाराओं से प्रभावित है। औपनिषदिक रहस्यवाद की सबसे प्रधान विशेषता उसकी अध्यात्म-प्रधानता है। उपनिषद् वेद के ज्ञान-काण्ड का प्रतिनिधित्व करते है। भारतीय मनीषी विचारक होने के साथ-साथ परम भावुक भी थे। यदि भावुक न होते तो आदिकवि की वाणी काव्य के रूप मे मुखरित कैसे होती? उपनिषदो के दृष्टा भी विचारक और भावुक दोनो ही थे। यही कारण है कि उपनिषदो में शुष्क दार्शनिक विवेचनो के साथ-साथ मधुर भावात्मक रहस्यवाद भी पाया जाता है औपनिषदिक रहस्यवाद की सबसे प्रमुख विशेषताएं दो हैं—एक तो अध्यात्म का भावात्मक निरूपण दूसरे अद्वैतवाद का भावात्मक प्रस्थापन। जायसी में हमें अध्यात्म का भावात्मक निरूपण भी मिलता है और अद्वैतवाद का भावात्मक प्रस्थापन भी। इनका वर्णन हम आगे करेंगे। यहाँ पर इतना ही सकेत करना आवश्यक है कि जायसी के रहस्यवाद को समझने के लिए उपनिषदों के रहस्यवाद को भी ध्यान में रखना चाहिए।

औपनिषदिक रहस्यवाद के अतिरिक्त भारतवर्ष में यौगिक रहस्य-

वाद की भी एक धारा पाई जाती है। वेदों से लेकर निर्गुणियों संतो तक उसकी परम्परा अविच्छिन्न रूप से प्रवर्तित रही है। जायसी के समय में नाथपंथी योग की बड़ी प्रतिष्ठा थी। स्थान-स्थान पर नाथ-पंथी सिद्ध पाए जाते थे। जायसी भी नाथपंथी योगसिद्धो में विश्वास करते थे, यह बात उनकी एक मृत्यु-सम्बन्धी किम्वदन्ती से प्रकट होती है। कहते हैं कि जायसी वन में योग-बल से सिंह का रूप धारण करके विचरण करते थे। एक बार एक राजा ने धोखे से उन्हे सिंह समझ कर मार दिया। बाद को उसे बडा पश्चात्ताप हुआ। जो भी हो, यह निर्विवाद है कि जायसी पर योग का बहुत अधिक प्रभाव था। योग के साथ-साथ वे यौगिक रहस्यवाद से भी प्रभावित थे। उनके यौगिक रहस्यवाद के विश्लेषण से बात स्पष्ट हो जायगी।

भारतीय रहस्यवाद की उपर्युक्त धाराओं से प्रभावित होते हुए भी जायसी एक सच्चे बा-शरा सूफी थे; अतएव उनके रहस्यवाद का सूफी रहस्यवाद से अत्यधिक प्रभावित होना अत्यन्त स्वाभाविक था। हमारी समझ से उनका रहस्यवाद सूफी रहस्यवाद का भारतीय रूपान्तर है।[1]

जायसी के रहस्यवाद के प्रकार—जायसी का रहस्यवाद पञ्चमुखी है। किन्तु फिर भी उनमें एक विचित्र सामञ्जस्य और सुषमा दिखाई पडती है। इस सामञ्जस्य और सुषमा ने उनके रहस्यवाद का सौन्दर्य बहुत बढा दिया है। हम उसके पाँचों प्रकारों पर प्रकाश डालते हुए उनमें पाई जाने वाली सुषमा और सामञ्जस्य का भी संकेत करेंगे। जायसी के पाँच प्रकार के रहस्यवाद इस प्रकार हैं—

(१) आध्यात्मिक रहस्यवाद।
(२) प्रकृतिमूलक रहस्यवाद।
(३) प्रेममूलक रहस्यवाद।
(४) यौगिक रहस्यवाद।

---

१. देखिये इस पुस्तक की भूमिका।

(५) अभिव्यक्तिमूलक रहस्यवाद ।

जायसी सूफी सत्त और साधक थे । सतो में आध्यात्मिकता कूट-कूट-कर भरी रहती है । उनकी इस अध्यात्मप्रियता का विकास उनकी रचनाओ में दार्शनिक विचारों के रूप में हुआ करता है । इन दार्शनिक विचारो की अभिव्यक्ति जब भावना के सहारे की जाती है तभी आध्यात्मिक रहस्यवाद का उदय होता है । आध्यात्मिक रहस्यवादी के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए स्पर्जन ने लिखा है—

"The mystical sense may be called philosophical in all these writers who present their convictions in a philosophical form calculated to appeal to the intellect as well as to the emotion."

अर्थात् जब रहस्यवादी अपनी धारणा इस प्रकार व्यक्त करता है कि यह बुद्धि और भाव दोनो ही का आनन्द-विधान करती है तब उसे आध्यात्मिक रहस्यवाद कहते है । जायसी का आध्यात्मिक रहस्यवाद उन्हे किसी भी श्रेष्ठ आध्यात्मिक रहस्यवादी के समकक्ष स्थान दिला सकता है । इसकी अभिव्यक्ति दो प्रकार से हुई है (क) कथामूलक अन्योक्ति शैली में, और (ख) कथामूलक समासोक्ति शैली में ।

कथात्मक अन्योक्ति शैली में अभिव्यक्त आध्यात्मिक रहस्यवाद

आध्यात्मिक तथ्यो की अभिव्यक्ति के लिए कवि लोग विविध शैलियो की योजना करते आए है । इन शैलियो मे कथात्मक अन्योक्ति शैली बड़ी महत्त्वपूर्ण है । अंग्रेजी के कवि टेनिसन ने अपनी अमर रचना मारटेडि आर्थर का प्रणयन इसी शैली मे किया है । संस्कृत का प्रसिद्ध नाटक 'प्रबोध चन्द्रोदय' भी इसी शैली में लिखा हुआ है । हिन्दी का अमर काव्य 'कामायनी' भी इसी शैली मे रचा गया है । 'पद्मावत' की

रचना भी इसी शैली में हुई है। 'पद्मावत' के प्रणेता जायसी ने ग्रंथ के अन्त में स्पष्ट घोषित किया है कि उनकी रचना एक कथात्मक अन्योक्ति है। वे लिखते हैं—

"मैं एहि अरथ पंडितन्ह बूझा।
कहा कि हम्ह किछु और न सूझा ॥
चौदह भुवन जो तर उपराहीं।
ते सब मानुष के घट माहीं ॥
तन चित उर मन राजा कीन्हा।
हिय सिंहल बुधि पदमिन चीन्हा ॥
गुरु सूआ जेहि पंथ दिखावा।
बिन गुरु जगत को निरगुन पावा ॥
नागमती यह दुनिया धन्धा।
बाचा सोइ न जो एहि चित बंधा ॥
राघव दूत सोइ सैतानू।
माया अलाउदीन सूलतानू ॥
प्रेम कथा एहि भाँति विचारहु।
बूझि लेहु जो बूझै पारहु ॥"

इस अन्योक्ति की सांकेतिकता को यदि स्पष्ट करना चाहे तो इस प्रकार कर सकते हैं—

पद्मावती = बुद्धि
रत्नसेन = मन
सिंहल = हृदय
चित्तौड = तन
नागमती = दुनिया धन्धा
अलाउद्दीन = माया
राघवचेतन = शैतान

हीरामन—गुरु

अन्योक्ति के तीन पक्ष :—अन्योक्ति के उपयुंक्त सुलझाव पर यदि मनोयोग पूर्वक विचार किया जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि उनकी सम्पूर्ण अन्योक्ति एक मनोवैज्ञानिक एव आध्यात्मिक पृष्ठभूमि पर खडी हुई है। यह आध्यात्मिक पृष्ठभूमि जायसी द्वारा प्रतिपादित नही है। इसका प्रतिपादन पण्डितो ने किया था उन्होके अनुसरण पर जायसी ने उसका उल्लेख कर दिया है—

"मैं एहि अरथ पण्डितन्ह बूझा।
कहा कि हम किछु औरन सूझा॥"

जायसी वास्तव में बडे चतुर थे। वे अपनी कथा का हिन्दू जनता मे प्रचार करना चाहते थे। इसके लिए पण्डितो के सर्टीफिकेट की बडी आवश्यकता थी। कथा के अन्त मे उन्होने अन्योक्ति के रूप मे वही सर्टीफिकेट जोड दिया है। जिस कथा की आध्यात्मिकता की प्रशसा पण्डितो ने की थी उसका भला अध्यात्म-प्रिय हिन्दू जनता में सम्यक् प्रचार क्यो न होता। हुआ भी ऐसा ही। हिन्दुओ की भाषा मे लिखी गई हिन्दुओ की कथा, जिसके आध्यात्मिक महत्त्व को पण्डितो तक ने स्वीकार किया था, हिन्दू जनता मे बहुत अधिक प्रचलित हुई। अब विचारणीय बात यह है कि जायसी अपनी कथा का हिन्दू जनता में इतना अधिक प्रचार करने के लिए क्यो लालायित थे। हमारी समझ मे उनका मूल लक्ष्य हिन्दू जनता मे इस्लाम और सूफी मत के सिद्धान्तो को पूर्ण प्रचार करना था, किन्तु वे प्रत्यक्ष ऐसा नही कर सकते थे। प्रत्यक्ष रूप से यदि वे अपने लक्ष्य का सकेत करते तो हिन्दू समाज धोके से भी उनकी कथा को पढ़ने का प्रयत्न न करता। इसीलिए उन्होने प्रत्यक्ष रूप से अपनी कथा का हिन्दू बाना पहनाना पड़ा है, किन्तु उसको प्राण स्लामिक भी और सूफी ही है। यही कारण है कि उनकी अन्योक्ति का उपयुंक्त सुलझाव केवल दिखावटी है। उसका प्रमुख सुलझाव सूफी साधना परक मालूम पडता है। इसका विवे-

चन आगे किया जायगा। इस प्रकार जायसी की अन्योक्ति के तीन पक्ष दिखाई पड़ते हैं —

प्रस्तुत प्रत्यक्ष पक्ष—पण्डितो द्वारा दिया गया अर्थ

प्रस्तुत अप्रत्यक्ष पक्ष—सूफी साधना परक अर्थ

अप्रस्तुत पक्ष—कथा पक्ष

इन तीनों पक्षों का सामञ्जस्य स्थापित करना बड़े से बड़े कलाकार के लिए असम्भव-सा है। ऐसा स्वाभाविक है कि कवि कभी एक ही पक्ष मे उलझ जाय और अन्य दो पक्षो की याद भी न रहे। ऐसा होने पर अन्योक्ति का क्रम भंग हो सकता है। जायसी इस दोष से नही बच सके है। वे कभी-कभी कथा पक्ष में इतना अधिक रम गए है कि प्रस्तुत आध्यात्मिक पक्ष को बिलकुल ही भूल गए है। जब उन्हें होश आया तो फिर आध्यात्मिक पक्ष का सकेत करने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि उनकी कथात्मक अन्योक्ति बीच-बीच मे भंग हो गई और समासोक्ति का समावेश हो गया। इतना होते हुए भी हम यह नही कह सकते कि जाससी की कथा अन्योक्ति ही नहीं रह गई है। वास्तव में वह अन्योक्ति ही है और अनेक दृष्टियों से सफल भी है। कथात्मक अन्योक्ति का निर्वाह वृहत प्रबन्ध काव्य की पंक्ति-पक्ति मे कोई भी कवि नही कर सकता है यदि जायसी ऐसा नही कर सके तो इसके कारण जायसी का महत्त्व कम नही हो सकता। वास्तव मे कथात्मक अन्योक्ति की सकलता उसकी प्रतीकात्मक के समष्टिमूलक निर्वाह पर समझी जानी चाहिए। इस दृष्टि से हम पद्मावत की अन्योक्ति को सफल-अन्योक्ति मान सकते है। 'पद्मावत' में प्रतीकात्मकता का समष्टिकमूल निर्वाह मिलता है। आगे के विवेचन से बात स्पष्ट हो जायगी।

जायसी की अन्योक्ति का प्रत्यक्ष पक्ष

जायसी की अन्योक्ति का प्रत्यक्ष पक्ष भारतीय है। जायसी ने स्पष्ट कहा है कि वे पण्डितों के पीछे लगे हैं और उन्होंने उन्ही पण्डितों के अनु-

करण पर अपनी कथा की अन्योक्ति बाँधी है। पण्डित लोगों में सबसे अधिक मान्यता गीता की रही है। गीता के अतिरिक्त उनमें राजयोग साधना की भी अच्छी प्रतिष्ठा पाई जाती है। विराट् ब्रह्मवाद वैदिक धर्म का प्रमुख प्रतिपाद्य रहा है। जायसी की अन्योक्ति का प्रत्यक्ष पक्ष इन सबसे प्रभावित है।

जायसी की अन्योक्ति और गीता का बुद्धियोग—जायसी ने अपनी अन्योक्ति को स्पष्ट करते हुए राजा को मन और पद्मावती को बुद्धि कहा है। मेरी समझ मे ऐसा लिखते समय वे गीता के बुद्धियोग तथा नाथ पंथियों की मन-साधना और बुद्धिवादी दार्शनिक तीनों से ही प्रभावित थे। गीता के द्वितीय अध्याय मे बुद्धि योग की प्रतिष्ठा मिलती है। इस बुद्धि योग की प्राणभूत विशेषता समत्व योग है। भगवान् कहते हैं—

"योगस्थः कुरु कर्माणि संग त्यक्त्वा धनंजयः।
सिद्ध्यासिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥"

अर्थात् हे धनञ्जय, आसक्ति को त्यागकर तथा सिद्धि और असिद्धि में समान बुद्धि वाला होकर योग में स्थित हुआ तू कर्मो को कर। समत्व भाव ही बुद्धियोग के नाम से प्रसिद्ध है। इसी समत्व-बुद्धि योग से अमृतमय परम पद प्राप्त हो सकता है—

"कर्मजं बुद्धि युक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्म बन्ध विनिर्मुक्ताः पदंगच्छन्त्यनामयम् ॥"

अर्थात् बुद्धियोगयुक्त ज्ञानी जन कर्मो से उत्पन्न होने वाले फल को त्यागकर जन्म रूप बन्धन से छूटे हुए निर्दोष अर्थात् अमृतमय परम पद को प्राप्त होते हैं। किन्तु इस समत्व-बुद्धियोग को प्राप्त करने के लिए इन्द्रियों का संयम परमावश्यक है—

"यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥"

अर्थात् जैसे कछुआ अपने अंगों को समेट लेता है वैसे ही यह पुरुष

सब ओर से अपनी इन्द्रियों की विषयों से समेट लेता है। तब उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है। किन्तु इन्द्रियों का संयम ही बड़ा कठिन है, क्योंकि इन्द्रियों का स्वामी मन बडा चंचल है। इन्द्रियो को किसी प्रकार वश में भी कर लिया जाय तो इस मन को वश में करना बडा कठिन है। तभी तो अर्जुन को भगवान् से कहना पडा था–

'चंचलं हि मन. कृष्ण प्रमाथीति बलवद्दृढम् ।'

इस पर भगवान् मन को वश में करने का उपाय बताते हैं—

'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ।'

अर्थात् हे अर्जुन, मन अभ्यास और वैराग्य से सयमित किया जा सकता है। बिना मन को संयमित किये बुद्धियोग नहीं प्राप्त हो सकता और बिना बुद्धियोग के आत्म दर्शन नही हो सकता क्योकि मन के परे बुद्धि है और बुद्धि से परे आत्मा है—

"इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तुसः ॥"

अर्थात् शरीर से इन्द्रियाँ बलवान् होती है, इन्द्रियो से मन, मन से बुद्धि और बुद्धि से भी परे आत्मा है। यही बुद्धि से ही जो पर रूप आत्मा है वही ज्ञातव्य है।

जायसी पर गीता के इस बुद्धि योग का स्पष्ट प्रभाव दिखाई पड़ता है। जायसी ने गीता में वर्णित मन और बुद्धि का महत्त्व स्वीकार किया है। उसीके फलस्वरूप उन्होने मन को साधक और समत्व बुद्धि को साध्य रूप ध्वनित किया है। उनकी दृष्टि बुद्धि से परे नही जा सकी। किन्तु जैसा कि हम आगे देखेंगे उनकी बुद्धि ब्रह्म का ही पर्याय प्रतीत होती है। मेरी समझ में अपनें इस मतवाद के लिए वे उन मुसलमान दार्शनिकों से प्रभावित हुए है जो बुद्धि को ही ब्रह्म मानते थे।

जायसी की अन्योक्ति तथा बुद्धिवादी मुसलमान दार्शनिक—हमें मुसलमानों मे भी दार्शनिक मत-मतान्तर मिलते हैं। शुशुत्री ने 'Out-

lines of Islamic Culture' में इनका उल्लेख किया है।

इन बुद्धिवादी दार्शनिको मे किडी जाति के यूसुफ याकूब साहब का सिद्धान्त विचारणीय है। यह आठवी शताब्दी के अन्त मे उत्पन्न हुए थे। इन्होने कुल मिलाकर २६३ ग्रथ लिखे थे। इनके ऊपर एरिस्टाटिल के सिद्धान्तों का बहुत अधिक प्रभाव पडा था। उनके आत्मतत्त्व सम्बन्धी सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए 'Outlines of Islamic Culture' में M. A. Shushterv साहब ने लिखा है।

"The individual soul is a pure intellectual substance, immaterial and imperishable having its sense in the world of in intelligence from where it descends in the world if sense".

अर्थात् "आत्मा शुद्ध बुद्धितत्त्व की बनी है, जो अभौतिक और अव्यय है। इसका मूल बुद्धि लोक है, वहाँ से यह इस दृश्य जगत् में अवतरित होती है।" इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि आत्मा का मूल कारण बुद्धि स्वरूपी ब्रह्म तत्त्व है। वह इस संसार में आकर ऐन्द्रिक हो जाती है। इन्द्रियों का स्वामी मन है। कोई आश्चर्य नही कि जायसी को इस प्रकार के मुसलमान दार्शनिकों मे बुद्धिवादी सिद्धान्तो से प्रेरणा मिली हो। कुछ निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है। मेरी अपनी धारणा यह है कि जायसी के ऊपर गीता के समत्व बुद्धियोग का ही प्रभाव विशेष था। उसीसे प्रेरित होकर उन्होने पद्मावती को बुद्धि का प्रतीक कहा है और उसके लिए पडितों की दुहाई दी है।

जायसी की अन्योक्ति और योग की मन-साधना—पद्मावत की अन्योक्ति मन-साधना से भी प्रभावित प्रतीत होती है। मन-साधना को योग ग्रन्थों मे भी बहुत महत्त्व दिया गया है। 'अमृत बिन्दूपनिषद्' में लिखा है—

"मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयोः।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयंस्मृतम् ॥"

"यह मन सकती यह मन सीऊ।
यहु मन पञ्चतत्व का जीऊ ॥"

जायसी गोरख के इस सिद्धान्त से इतना अधिक प्रभावित हुए कि उन्होने उनकी उपयु`क्त पंक्तियों को थोड़ा हेर-फ़ेर के साथ दुहरा दिया—

"गजपति यहु मन सक्ती यहु मन सीऊ ।"

गोरख के इसी प्रभाव के फलस्वरूप उन्होने मन को साधक रूप कहा है। उन्हे गीता के बुद्धियोग से भी थोड़ी प्रेरणा मिली होगी, ऐसी मेरी धारणा है। इस धारणा का स्पष्टीकरण हम अभी उपर कर ही चुके है। वे जानते थे कि मन का लय जब तक न हो तब तक परमपद की प्राप्ति नही हो सकती। इसीलिए सम्भवतः उन्होने रत्नसेन को मन का और पद्मावती को बुद्धि का प्रतीक माना है। हो सकता है कि मुसलमान साधकों के 'बुद्धि ही ब्रह्म है', वाले सिद्धान्त से प्रभावित होकर उन्होंने पद्मावती को ब्रह्म रूप मानना प्रारम्भ कर दिया हो।

उनके ऊपर वैदिक धर्म की विराट् ब्रह्म वाली धारणा का भी प्रभाव परिलक्षित होता है। रहस्याभिव्यक्ति के लिए इस प्रकार का धारणा का अपनाया जाना आवश्यक भी था। सम्भवतः यही कारण है कि जायसी ने समत्व बुद्धिरूपी पद्मावती को विराट् ब्रह्म के रूप में चित्रित करने का प्रयास किया है।

जायसी की अन्योक्ति में कथित साधक की सार्थकता।—अभी हम कह चुके है कि जायसी ने साधक रत्नसेन को मन का प्रतीक माना है। अब हम उनके इस प्रतीक की सार्थकता पर थोड़ा-सा विचार कर लेना चाहते है। हमारी समझ में जायसी ने अपने इस प्रतीक को निभाने की पूरी चेष्टा की है। रत्नसेन के चरित्र की कुछ प्रमुख विशेषताएँ है। सबसे प्रमुख विशेषता आसक्तिकी तीव्रता है, जब तक वह नागमती में आसक्त रहता है तब तक वह पूर्ण रूप से उसके ही प्रेम में लीन रहता है। किन्तु जब पद्मावती की ओर उन्मुख होता तो फिर उसमें

उसकी पूर्ण आसक्ति हो जाती है। आसक्ति की तीव्रता मन की भी प्रमुख विशेषता है। जब तक इस आसक्ति का केन्द्र संसार और उसकी सांसारिकता रहती है तब तक वह सांसारिक एवं अशुद्ध रहता है, किन्तु ज्यों ही उसकी आसक्ति समत्व बुद्धि के प्रति होने लगती है, संसार से उदासीन होने लगता है तब वह पूर्ण शुद्ध हो जाता है। 'अमृत विन्दूपनिषद्' में मन के ये ही दो भेद बतलाए गए हैं —

"मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाशुद्धमेव च।
अशुद्धं काम संकल्प शुद्ध काम विवर्जितम् ॥"

मन के यह दोनों ही स्वरूप हमें जायसी के नायक रतनसेन के जीवन में घटित होते दिखाई पड़ते है। नागमती को कवि ने 'दुनिया का धंधा' कहा है। जब तक रतनसेन इसमें फँसा रहता है तब तक उसका जीवन पूर्ण सासारिक बना रहता है। उसके जीवन का यह सासारिक पक्ष अशुद्ध मन का प्रतीक माना जा सकता है। किन्तु जब रतनसेन नागमती से उदासीन होकर पद्मावती रूपी समत्व बुद्धि को अपनाने चल देता है, तभी से वह शुद्ध मन का प्रतिरूप प्रतीत होने लगता है।

मन की एक सबसे प्रधान विशेषता यह है कि वह बार-बार प्रबोधित किये जाने पर भी माया के भ्रम-जाल में फँस जाता है। रतनसेन के चरित्र में भी जायसी नें यह विशेषता चित्रित की है। बादल रूपी ज्ञान के बार-बार चेताने पर भी यह रतनसेन रूपी मन अलाउद्दीन रूपी माया के भ्रम-जाल में फँस जाता है।

मन सब प्रकार से समझदार होते हुए भी जरा-सी प्रेरणा पाकर एकदम आवेश में आ जाता है। फिर उसे उचित-अनुचित का ज्ञान नहीं रहता। जायसी ने रतनसेन के चरित्र को भी ऐसा ही चित्रित किया है। रतनसेन दिल्ली से किसी प्रकार मुक्त होने पर जब चित्तौड़ को आता है तो देवपाल का वृत्तान्त सुनकर परिणाम को बिना सोचे हुए ही वह

देवपाल पर आक्रमण कर देता है। बिना विचारे हुए किये कार्य का परिणाम अच्छा नही होता। वह मृत्यु का शिकार बन जाता है। इस प्रकार कवि ने रतनसेन के चरित्र का साम्य मन की विशेषताओं से बैठालने की पूरी चेष्टा की है। अतएव रतनसेन को मन का प्रतीक मानना उचित ही है।

जायसी की अन्योक्ति का साध्य पक्ष—अब हम जायसी की अन्योक्ति के साध्य पक्ष पर विचार कर लेना चाहते है। उन्होने पद्मावती को, जो बुद्धि का प्रतीक है, साध्य माना है। उसकी यह प्रतीक-कल्पना गीता के समत्व बुद्धि योग, वेद के विराट् ब्रह्मवाद, मुसलमानों के बुद्धि ही ब्रह्म है वाले सिद्धान्त तथा योगियों के बुद्धिलय योग से प्रभावित है। उन्होने पद्मावती को केवल समत्व बुद्धि के रूप में ही नहीं वरन् विराट् ब्रह्म के रूप में भी चित्रित किया है। वास्तव में वे समत्व बुद्धि को विराट् ब्रह्म का प्रतिरूप ही मानते थे। इसीलिए कथा मे जहाँ कही भी पद्मावती के आध्यात्मिक पक्ष की ओर संकेत किया है वहाँ समत्वबुद्धि रूपी विराट् ब्रह्म का ही भाव अभिव्यञ्जित होता है। हमारी समझ में वे समत्व बुद्धि और विराट् ब्रह्म के भेद को नहीं समझते थे। गीता के अनुकरण पर उन्होंने पद्मावती को समत्व बुद्धि का प्रतीक कह दिया है तथा वेद और गाता के रहस्यपूर्ण विराट् ब्रह्म के वर्णनों के आधार पर उन्होंने उसे विराट् ब्रह्म रूप में भी चित्रित किया है। पद्मावती के कुछ अध्यात्म परक वर्णनो के विश्लेषण से उपर्युक्त बात स्पष्ट हो जायगी। एक बहुत प्रसिद्ध प्रसग इस प्रकार है—

"कहा मानसर चाह सो पाई,
पारस रूप यहाँ लगि आई।
भा निर्मल तिन्ह पायन परसे,
पावा रूप रूप के दरसे।

मलय समीर वास तन आई,
भा सीतल गै तपीन बुझाई।
न जनौं कौन पौन लेई आवा,
पुन्य दस भई पाप गवाँवा।
तत खन हार वेगि उतराना,
पावा सखिन्ह चन्द विहंसाना।
विकसा कुमुद देखि ससि रेखा,
भई तह आप जहाँ जेइ देखा।
पावा रूप रूप जस चाहा,
ससि मुख जनु दर्पन होइ रहा।
नयन जो देखा कंवल भा निरमल नीर शरीर।
हंसत जो देखा हंस भा दसन ज्योति नगहीर॥"

इस अवतरण में साध्य का आध्यात्मिक स्वरूप पूर्ण स्पष्ट हो गया है। इसमें आध्यात्मिकता और साहित्यिकता दोनो ही अपनी पराकाष्ठा में प्रतिष्ठित की गई है। इन पंक्तियों में साधक का स्वरूप, साध्य का स्वरूप तथा दोनों के मिलन का बड़ा ही रहस्यात्मक वर्णन किया गया है। इसमें हमें इब्नेसिना नामक सूफी के सौन्दर्यवाद तथा वेदान्त और सूफियों के सहूदिया वर्ग के प्रतिबिम्बवाद की अच्छी झलक मिलती है। रूपकातिशयोक्ति विभावना आदि अलंकारों से उक्ति में चमत्कार आ गया है। साध्यवसाना लक्षणा से एक विचित्र लाक्षणिकता आ गई है जिससे अभिव्यक्ति में बड़ा सौ दर्य आ गया है। कवि ने मानसरोवर को साधक रूप ध्वनित किया है। पद्मावती साध्य रूप है। वह समत्वबुद्धिरूपिणी होते हुए विराट् ब्रह्म रूप भी है।

उस विराट् ब्रह्म रूपी पारस के स्पर्श से साधक जीव, जिसका प्रतीक मानसरोवर है, ब्रह्म रूप हो जाता है। 'उपनिषद्' में तो यह बात बार-बार दोहराई गई है कि ब्रह्म को प्राप्त करके मनुष्य सब बन्धनों

से निर्मुक्त हो ब्रह्ममय हो जाता है। एक 'उपनिषद्' में लिखा है—

"भिद्यते हृदय ग्रन्थि छिद्यन्ते सर्व संशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥"

अर्थात् उस परमेश्वर का साक्षात्कार प्राप्त करके हृदय की ग्रंथियाँ नष्ट हो जाती है, सब संशय निर्मूल हो जाते है, कर्म-बन्धन टूट जाते है और वह ब्रह्म रूप हो जाता है। एक दूसरे स्थल पर लिखा है 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' अर्थात् ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म रूप हो जाता है। कबीर ने समत्वबुद्धि के प्राप्त होते ही साधक का भगवान् रूप होना लिखा —

"लोहा कंचन सम जानहि ते मूरत भगवान्"

इस अवतरण में इसी भाव की प्रतिष्ठा मिलती है। कवि का कथन है कि समत्वबुद्धि रूपी ब्रह्म का प्रतीक पद्मावती के चरणों का स्पर्श करके मानस रूपी साधक अपने समस्त कालुष्यों को धो डालता है। उसके समस्त पुण्य उदय होने लगते है। इसी प्रकार समस्त अवतरण का समत्व बुद्धि रूपी विराट् ब्रह्मपरक अर्थ सरलता से लगाया जा सकता है।

अब हम एक दूसरा प्रसंग लेते है। इस प्रसंग में भी पद्मावती का चित्रण समत्व बुद्धिरूपी विराट् ब्रह्म के रूप में ही किया हुआ जान पड़ता है। वर्णन इस प्रकार है—

"सरवर तीर पदमनी आई
खोपा छोर केस मुकलाई
सरवर रूप बिमोहा, हिए हिलोरहि लेई।
पाव छुवैं मकु पावौं इहि मिसि लहरैं देई॥"

यहाँ पर कवि ने पद्मावती को विराट् ब्रह्म रूप ही चित्रित किया है। लौकिकता में अलौकिकता का यह आरोप जायसी के रहस्यवाद का प्राण है। अब थोड़ा समत्वबुद्धि और पद्मावती के साम्य पर विचार कर लेना चाहते है। मुझे यह कहने में संकोच नहीं है कि मन का प्रतीक

रतनसेन के चरित्र से जितना सामञ्जस्य रखता है उतना समत्वबुद्धि का प्रतीक पद्मावती पर घटित नही होता है। इतना होते हुए भी यदि हम पद्मावती के चरित्र का विश्लेषण करें तो अनुभव होगा कि जायसी ने यथाशक्ति पद्मावती का समत्वबुद्धि से सामञ्जस्य बैठालने की चेष्टा की है। पद्मावती के चरित्र की सबसे प्रधान विशेषता उसकी आदर्श-प्रियता है। वह आदर्श भारतीय प्रेमिका और पत्नी का है। समत्वबुद्धि भी आदर्श रूप है। जायसी ने रतनसेन के मुख से एक स्थल पर कहलाया है—*'पद्मावति गुरु हौ चेला।'*

आध्यात्मिक और प्रतीकात्मक दृष्टि से बात बिलकुल सही है। मन का पथ-प्रदर्शन समत्व बुद्धि ही कर सकती है। तभी मन संयत किया जा सकता है। इस प्रकार यहाँ पर पद्मावती के लिए समत्व बुद्धि का प्रतीक-जो जायसी ने स्वयं निर्धारित किया है, पूर्ण सार्थक प्रतीत होता है। इस प्रकार और भी अनेक स्थलों से प्रतीक की सार्थक प्रकट होती है। किंतु कुछ ऐसे भी स्थल हैं जहाँ पर यह प्रतीक बहुत औचित्यपूर्ण नहीं प्रतीत हाता है। जो भी हो सामान्यतया जायसी का साध्य सम्बन्धी प्रतीक भी सार्थक कहा जायगा। कोई भी कथा बिलकुल प्रतीकों के अनुरूप नही ढाली जा सकती। बड़ी-बड़ी सफल आध्यात्मिक कथाओं के समस्त स्थल प्रतीकों के आधार पर स्पष्ट नही किये जा सकते हैं। अतः जायसी से जिन्होंने विशेष शास्त्रों का सांग अध्ययन नहीं किया था, कुछ गलतियाँ हो गई हों तो कोई आश्चर्य नही। हम केवलइ तना ही कहना चाहते है कि उन्होंने प्रतीकों का आश्रय लेकर अपनी कथा की अन्योक्ति स्पष्ट करके उसकी रहस्यात्मकता स्पष्ट रूप से स्वीकार कर ली है। कथा का इस रहस्यात्मकता का संकेत करना ही यहाँ पर हमारा लक्ष्य है। अब हम थोड़ा-सा अन्योक्ति के अन्य पक्षों की आध्यात्मिकता पर भी विचार कर लेना चाहते है।

जायसी की अन्योक्ति में हृदय का प्रतीक सिंहलगढ़—जायसी

ने अपनी अन्योक्ति को स्पष्ट करते हुए सिंहलगढ़ को हृदय कहा है। बुद्धि रूपी पद्मावती इसीमें निवास करती है। यहाँ पर विचारणीय यह है कि सिंहलगढ को हृदय मानना कहाँ तक उपयुक्त है। सिंहलगढ़ का वर्णन कवि ने दो-तीन स्थलों पर किया हैं पहला वर्णन इस प्रकार है—

"नित गढ़ बाँचि चलै ससि सूरू, नाहित होय वाजि रथ चूरू।
पौरी नवौ वज्र के साजी, सहस सहस तँह बैठे पाजी॥
फिरहिं पाँच कुतवार सुभौरी, कापै पावै चपत वह पौरी।
पौरिहि पौरि सिंहगढ़ काढ़े, डरपहि लोग देख तह ठाढ़े॥
बहु विधान वै नाहर गढ़े,
जनु गाजहिं चाहहि सिर चढ़े।
टारहि पूँछ पसारहि जीहा,
कुञरि डरहि कि गुंजरि लीहा।
कनक सिला गढ़ सीढ़ी लाई,
जगमगाहि गढ़ ऊपर ताईं।
नवौ खण्ड नव पौरी, औ तह बज्र किवार।
चारि बसेरे सो चढे, सत सो उतरे पार॥
नव पौरि पर दसव दुवारा,
तेहि पर बाज राज घरियारा।
घरी सो वैठि गिनै घरियारी,
पहर पहर सो आपनि बारी।"

सिंहलग का उपर्युक्त वर्णन उसे हृदय का प्रतीक नही प्रकट करता। इने हम शरीर का प्रतीक मान सकते है। इसमें गढ़ के माध्यम से शरीर का हठयौगिक वर्णन किया हुआ जान पड़ता है। इसमें नौ द्वारो की चर्चा की गई। नौ द्वार वाले शरीर का वर्णन जायसी से पहले भी योगी लोग करते आए है। यहाँ तक कि वेद में भी एक

स्थल पर *'नव द्वारे पुरे देही'* का वर्णन मिलता है। दशम द्वार ब्रह्म-रन्ध्र को कहते है। वह ब्रह्माण्ड में होता है, हृदय में नहीं। इन सब बातों से स्पष्ट हो जाता है कि जायसी का अपनी अन्योक्ति में सिंहलगढ़ को हृदय का प्रतीक कहना सार्थक नही है। इस कथन की पुष्टि सिंहलगढ़ के एक दूसरे वर्णन से भी होती है वह इस प्रकार है—

"गढ़ तस बाँक जैस तोरि काया।
पुरुष देखि ओही कै छाया॥
पाइय नाहि जूझि हठ कीन्हे।
जेहि पावा तेहि आपुहि चीन्हे॥
नौ पौरी तेहि गढ़ मझियारा।
और तँह फिरहि पाँच कोतवारा॥"

उपर्युक्त वर्णनो से स्पष्ट है कि सिंहलगढ हृदय का प्रतीक न होकर शरीर का प्रतीक है। अब प्रश्न यह है कि जायसी ने यह भूल क्यों की। हमारी धारणा यह है कि जायसी अपनी कथा के एक साथ कई साकेतिक अर्थ व्यञ्जित करना चाहते थे। इनमे तीन बहुत स्पष्ट मालूम पड़ते है—मनोविज्ञानपरक, हठयोगपरक और सूफी साधना-परक। इनमे से दो अर्थो की लगभग पूरी-पूरी व्यञ्जना मिलती है एक सूफी साधनापरक अर्थ की और दूसरी मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक अर्थ की। यौगिक अर्थ की व्यञ्जना उन्होने कथा में सर्वत्र नही की है केवल दो चार स्थलो पर ही की है। मेरी अपनी धारणा है कि सिंहलगढ़ का वर्णन करते समय उन्हें शरीर से उसका बहुत अधिक साम्य दिखाई पड़ा, सम्भवत: इसीलिए उन्होंने उसका वर्णन शरीर के साम्य से कर दिया। ऐसे स्थलों पर वे सम्पूर्ण कथा के एक ही आध्यात्मिक अर्थ के निर्वाह वाली बात भूल गए है। दूसरा प्रश्न यह उठता है कि जायसी ने फिर किस आधार पर हृदय को साध्य का निवास-स्थान माना है। हमारी समझ में ऐसा लिखते समय उनमें सूफियों की यह

धारणा जागरूक थी कि सूफी साध्य-साधक के हृदय की सम्पत्ति होता है। पीर मुरीद के हृदय में साध्य की जो भावना भर देता है वह उसी रूप में उसकी उपासना करने लगता है। पद्मावत की कथा में तोता रूपी गुरु ने रतनसेन रूपी साधक के हृदय में पद्मावती रूपी साध्य का एक अलौकिक सौन्दर्य प्रतिष्ठित कर दिया है। रतनसेन का हृदय उसी रूप की भावना से भरा रहता है। इस दृष्टि से जायसी का सिंहल-गढ़ को हृदय का प्रतीक मानना उचित है। सिंहल के स्फुट वर्णनों से प्रकट भी होता है कि वह हृदय का प्रतीक है सिंहलद्वीप—वर्णन खण्ड की प्रथम पंक्तियों से ही इस बात की ध्वनि निकलती है कि जायसी सिंहलद्वीप को हृदय का प्रतीक मानते थे। वे लिखते हैं—

"सिहलदीप कथा अब गावौं।
औ सो पद्मिनि बरनि सुनावौ ॥
निरमल दरपन भाँति विशेषा।
जो जेहि रूप सो तैसेइ देखा ॥"

वास्तव में पद्मावती रूपी समत्व बुद्धि का उदय दर्पण के समान शुद्ध और स्वच्छ हृदय में होना स्वाभाविक है। इसी प्रकार और भी पंक्तियां मिलती है जिनसे स्पष्ट प्रकट होता है कि जायसी ने सिंहलगढ़ की कल्पना हृदय के प्रतीक के रूप में की है। अतः हम इस दृष्टि से जायसी की अन्योक्ति को असफल नहीं कह सकते। जो कवि अपनी बहुज्ञता दिखाने के लिए बावले रहते हैं उनसे इस प्रकार की गलतियाँ साधारणतया हो ही जाती है। जायसी मे यह दोष अपने अति रूप में पाया जाता था। वे जहाँ भी अवसर पाते थे अपनी बहुज्ञता प्रदर्शित करने लगते थे। सिंहलगढ का वर्णन करते समय भी वे अपना हठयौगिक ज्ञान का प्रदर्शन करने मे लग गए हैं। उनकी इसी मनोवैज्ञानिक दुर्बलता के कारण ही उनकी अन्योक्ति का क्रम-भंग-सा हो गया है।

जायसी के द्वारा दिये गए अन्योक्ति के अन्य प्रतीक कथा से पूर्ण

साम्य रखते है चित्तौड़गढ़ को शरीर का प्रतीक मानना सार्थक ही है। मन को जो कि इन्द्रियों का स्वामी है निवास-स्थान इन्द्रियों का सघात मानव-शरीर ही है। सिंहलगढ़ के सदृश जायसी ने चित्तौड़गढ के वर्णन भी हठयौगिक ढंग पर लिखे है। वास्तव में वे अपनी बहुज्ञता प्रदर्शन वाली वृत्ति से कभी भी पिण्ड नही छुड़ा सके है। जायसी ने तोते को गुरु माना है। यह प्रतीक भी सार्थक है। आगे यह बात स्पष्ट की जायगी। इसी प्रकार राघवचेतन अलाउद्दीन और नागमती आदि के लिए दिये गए प्रतीक भी बिलकुल निरर्थक नही प्रतीत होते। वास्तव मे यह कथा में पूर्ण रूप से घटित हो जाते है। आगे इन पर विचार किया जायगा। इस प्रकार अत्यंत सक्षेप में हम कह सकते है कि जायसी ने पद्मावत की कथा की अन्योक्ति का जो स्पष्टीकरण किया है वह निरर्थक नही है। यह बात दूसरी है कि एकाध स्थलो पर उसका कोई प्रतीक एक दूसरे अर्थ की व्यञ्जना करने लगा हो। अपने को जायसी का विशेषज्ञ मानने का दम्भ भरने वाले कुछ सज्जन लिखते है—'यहाँ पर इतना कहना प्रर्याप्त है कि कवि ने सारे कथानक को शरीर के अन्दर घटित किया है जिसमें कवि असफल है। असफल होने के दो कारण है। पहला तो यह कि कवि ने यह व्याख्या काव्य लिखने के बाद में की है। काव्य-रचना प्रारम्भ करते समय उसके मस्तिष्क में कोई ऐसी वस्तु प्रतीत नही होती। इस कारण यह काव्य पर लागू नही होता दूसरा कारण यह है कि कवि की बुद्धि ही शायद इतनी अधिक नही है कि वह इसको ठीक तरह घटित कर सके।' कवि की बुद्धि को कोसने वाले इन महाशय की बुद्धि पर वास्तव में मुझे बड़ा तरस आता है। जायसी अद्वितीय प्रतिभाशाली और बहुश्रुत कवि थे इस बात की अवहेलना कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति नही कर सकता। वास्तव में जायसी की अन्योक्ति एकाध स्थलो को छोड़कर पूर्ण और सफल है इन महाशय ने जायसी की अन्योक्ति तोड़ते समय हृदय को भी

मन मान लिया है और फिर कहते है कि रतनसेन और सिंहल मन के प्रतीक क्यों हैं, यह समझ में नही आता। समझ में भी कैसे आए। समझने के लिए विस्तृत अध्ययन और चेतन-बुद्धि की आवश्यकता होती है हृदय और मन दोनो एक नही है। हृदय वह गुहा है जिसमे अन्तः-करण चतुष्टय निवास करता है। अन्तःकरण चतुष्टय है मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार। यह सब हृदय में रहते है इसी हृदय में आत्मा भी निवास करती है जो इन सबसे परे है।

भारतीयों ने ही नही सूफियों ने भी हृदय को मन से, जोकि एक इन्द्रिय ही है, बिलकुल अलग माना है। सूफी लोगों ने मनुष्य के जो चार विभाग किये है वे क्रमशः इन्द्रिय (नफ्स) आत्मा (रूह) हृदय (कल्ब) तथा अक्ल है। इनमें हृदय अलग है और इन्द्रियाँ अलग। दोनो एक नही माने गए है। इस प्रकार न तो भारतीय दर्शन के आधार पर और न सूफी दर्शन के आधार पर ही हम हृदय को मन का पर्याय कह सकते है। इन महाशय ने अपनी बुद्धि को प्रमाण मानकर जो जी चाहा लिख दिया है। 'पडितों के पिछलगे' जायसी की बात आपकी समझ में आती भी कैसे ? आपका दूसरा प्रश्न है जायसी ने माया के लिए जो तीन प्रतीक दिये है वे क्या है ? यहाँ पर भी आपने अपनी बुद्धि को कष्ट न देकर समझने की चेष्टा नही की है हम बार-बार कह चुके है कि जायसी सूफी दर्शन और भारतीय अद्वैतवाद दोनों से प्रभावित थे। सूफी साधना में शैतान को साधना में बाधक माना जाता है और भारतीय दर्शनों में माया साधना की प्रधान बाधिका कही गई है। जायसी दोनो दर्शनों की बातें लाना चाहते थे; क्योकि उनका लक्ष्य हिन्दू और मुसलमान दोनों में सामञ्जस्य स्थापित करना था। यही कारण है कि उन्होने राघवचेतन को शैतान और अलाउद्दीन को माया कहा है। अब प्रश्न यह उठता है कि उन्होने नागमती को दुनिया का धंधा क्यों कहा है ? यहाँ पर भी हम यही कहेंगे कि जायसी भारतीय और सूफी

दोनों विचार-धाराओं का सामञ्जस्य बैठालना चाहते थे। भारत में जीवन के दो मार्ग माने गए हैं—प्रवृत्ति मार्ग और निवृत्ति मार्ग। प्रवृत्ति मार्ग का प्रतीक पत्नी मानी जाती है। जायसी का लक्ष्य मन रूपी साधक को प्रवृत्ति मार्ग से हटाकर निवृत्ति मार्ग या संसार से हटाकर परमार्थ में लगाना था। यही कारण है उन्हें प्रवृत्तिमार्गी जीवन का प्रतीक रूप नागमती को दुनिया का धंधा कहा है। उनका ऐसा कहना वास्तव में सार्थक है। यहाँ पर एक प्रश्न और उठ खड़ा होता है। वह यह कि जब जायसी नारी को प्रवृत्ति मार्ग का प्रतीक मानते थे तो फिर उन्होंने पद्मावती के लिए रतनसेन को क्यों व्याकुल दिखाया है। वास्तव में पद्मावती ब्रह्म का प्रतीक मानी गई है। सूफी लोग नारी को अध्यात्मिक प्रेम का अवलम्ब मानते थें। जलाउद्दीन ने उसे ईश्वर की ज्योति की किरण कहा है। पद्मावती को जायसी ने उसी रूप में चित्रित किया है। पद्मावती पूर्ण प्रेम का भी औतार है। सूफी-साधना में प्रेम की पराकाष्ठा दिखलाने के लिए परकीया को ही महत्त्व दिया जाता है। इस दृष्टि से भी पद्मावती को सासारिकता का प्रतीक नही माना जा सकता। इतना तो अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि सूफी-साधना की अभिव्यक्ति के लिए बावले हुए मुसलमान कवि जायसी ने भारतीय स्वकीया के महत्त्व को धक्का पहुँचाया है।

जायसी की अन्योक्ति का प्रस्तुत अप्रत्यक्ष पक्ष

सूफी साधना के प्रकाश में अन्योक्ति का स्पष्टीकरण— अब हम जायसी को अन्योक्ति का स्पष्टीकरण सूफी साधना की दृष्टि से करना चाहते हैं। सूफी साधना की दृष्टि से भी रतनसेन ही 'सालिक' या साधक ठहराते हैं। उनका सारा जीवन एक सूफी साधक के जीवन से साम्य रखता है। सूफी साधक आध्यात्मिक साधना के लिए पूर्वजन्म के संस्कार लेकर उत्पन्न होता है। ज्योतिषी इन संस्कारों को सरलता से पढ़ लेते है। रतनसेन ऐसे ही संस्कार लेकर उत्पन्न हुआ था। उसे

सिंहलगढ में जाकर सिद्धि प्राप्त होगी यह भविष्य-वाणी ज्योतिषी जन्म समय में ही कर चुके थे —

"पण्डित गुनि सामुद्रिक देखा।
देखि रूप और लखन विशेषा॥
रतनसेन यह कुल निरमरा।
रतन ज्योति मन माथे परा॥
पदुम पदारथ लिखी जो जोरी।
चाँद सुरज जस होय अजोरी॥
जस मालति कह भौंर वियोगी।
तस ओहि लागि होय यह जोगी॥
सिंहल दीप जाई यह पावै।
सिद्ध होय चित और लोहि आवै॥"

इन संस्कारों को गुरु जाग्रत करता है। जायसी ने तोते को गुरु रूप में चित्रित किया है। गुरु के समस्त गुण तोते में प्रतिष्ठित किये गए हैं। गुरु का सबसे प्रधान लक्षण है कवि और पण्डित होना। तोता भी 'वियास' की भाँति कवि और 'सहदेव' के समान पण्डित है—

"कवि वियास पंडित सहदेऊ।"

गुरु या पीर का सत्यनिष्ठ होना भी परमावश्यक होता है। तोता परम सत्यनिष्ठ है वह प्राणो की भी उपेक्षा करके सत्य बोलना उचित समझता है —

"सत्य कहत राजा जिऊ जाऊ।
पै मुख असत न भाखौ काऊ॥"

जिस प्रकार सत्यनिष्ठ गुरु साधक को सत्य का उपदेश देता है, उसी प्रकार तोता भी रतनसेन को सत्य एव सौन्दर्य स्वरूपा पद्मावती की सूचना देता है। पद्मावती रूपी ब्रह्म का उपदेश सुनकर राजा उसकी दिव्यता से मुग्ध हो मूर्छित हो जाता है—

"सुनतहि राजा गा मुरछाई।
जानौ लहरि सुरजि कै आई॥"

जिस प्रकार गुरु की प्रेरणा से साधक के पूर्व जन्म के सस्कार जाग्रत हो जाते है और वह इस संसार से उदासीन होकर अपनी साधना में संलग्न हो जाती है उसी तरह रतनसेन भी तोते रूपी गुरु से पद्मावती रूपी प्रियतम का सदेश पाकर ससार से उदासीन होकर उसकी खोज और साधना मे सलग्न हो जाता है। इस समय उसकी स्थिति बावलों-जैसी हो जाती है—

"जब भा चेत उठा वैरागा।
बाउर जनौ सोइ उठि जागा॥"

इसी स्थल पर जायसी ने साधक की परिचयात्मक अनुभूति का बडा सुन्दर चित्रण किया है। जब गुरु या पीर साधक को प्रियतम के दिव्य रूप का परिचय देता है तब उसे जीवन में प्रथम बार विचित्र दिव्यता की अनुभूति होती है। यह परिचयात्मक दिव्यता ही साधक को संसार से उदासीन बना देती है और साधना में पूरी तौर से संलग्न करा देती है। इस परिचयात्मक दिव्यता का जायसी ने बडा सुन्दर और रहस्यपूर्ण वर्णन किया है। सूफियों की पारिभाषिक भाषा में हम इसे हाल की हालत कह सकते है—

"आवत जग बालक जस सोभा।
उठा रोय हा ज्ञान सो खोवा॥
हौ तो अहाँ अमर जहा।
यहाँ मरन पुर आएउँ कहा॥"

जिस प्रकार साधक उसकी दिव्यता का परिचय पाकर पागलों की तरह उसकी प्राप्ति और खोज के लिए निकल पडता है, उसी प्रकार रतन सेन भी अपना राज-पाट छोडकर पद्मावती की खोज में निकल

पडता है। इसके लिए वह प्रेम का मार्ग ग्रहण करता है। यह प्रेम का मार्ग बडा ही कठिन होता है—

"प्रेम पहार कठिन विधि गाढ़ा।
सो पै चढ़ै जो सिर सों चढा॥"

इस समय साधक की दृष्टि उलटी हो जाती है वह सायर की उपेक्षा करके अपने साध्य में लीन होने लगती है—

"उलटि दीठि माया सो रूठी।
पलटिन फिरी जानकै भूठी॥"

सूफियो ने साधना रूपी यात्रा की चार अवस्थाएँ शरीयत, तरीकत, हकीकत और मारिफत मानी है।' जायसी इन अवस्थाओ के महत्त्व से परिचित थे उन्होंने एक स्थल पर उनका उल्लेख करते हुए लिखा है कि—

"चार बसेरे सो चढ़ै संत सो उतरै पार।"

'पद्मावत' मे जायसी ने साधक रतनसेन की साधना रूपी यात्रा में भी चार पड़ाव ध्वनित किये है। रतनसेन का पहला पड़ाव या बसेरा समुद्र के किनारे पर होता है। यह पड़ाब शरीयत का प्रतीक कहा जा सकता है यहाँ तक जायसी के रतनसेन का मार्ग उतना कठिन नही है जितना कि आगे आने वाला सात समुद्र का मार्ग चित्रित किया गया है। समुद्र के मार्ग की भयंकरता का वर्णन करते हुए गजापति कहता है—

"पै गुसाईं सन एक विनाँती।
मारग कठिन जाब केहि भाँती॥
सात समुद्र असूझ अपारा।
मारहि मगर अच्छ घरियारा॥
उठै लहरि नहिं जाय सँभारी।
भागहि कोइ निबहै वैपारी॥"

यहाँ पर यह भी बता देना चाहते हैं कि जायसी ने शरीयत के मार्ग पर बहुत बल नहीं दिया उनका विश्वास था कि प्रेम साधकों के लिए केवल पहली सीढ़ी-मात्र है। उन्होंने शरीयतों की उपेक्षा भी व्यञ्जित की है। निम्न लिखित पंक्ति से यही बात प्रकट होती है—

"प्रेम पंथ दिन घरी न देखा।
जब देखै तब होय सरेखा॥"

ऊपर निर्देशित तरीकत का मार्ग शरीयत के मार्ग से भी कठिन होता है। इस मार्ग में चलने वाले साधक को अपनी साधना की सिद्धि के लिए अपना सर्बस्व त्यागना पड़ता है। इस स्थिति का सकेत जायसी ने निम्नलिखित पंक्तियों में किया है—

"जो कुछ दरब अहाँ संग दान दीन्ह संसार।
न जाने केहि सत सेती, दैव उतारे पार॥"

इस मार्ग में साधक को सत् का ही पूर्ण आश्रय लेना पड़ता है। तभी साधक सागर पार हो सकता है—

"सायर तरै हिए सत् पूरा।"

साधना का तीसरा पड़ाव हकीकत है। जायसी ने इस स्थिति का भी बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। सातवें समुद्र में आकर सालिक तीसरे पड़ाव पर पहुँच जाता है। इस अवस्था में साधक ब्रह्म के अस्तित्व की हकीकत मालूम हो जाती है। जायसी की निम्नलिखित पंक्तियों में इस स्थिति का वर्णन मिलता है—

"सतएँ समुद्र मानसर आए।
मन जो कीन्ह साहस सिध पाए॥
देखि मानसर रूप सुहावा।
हिय हुलास पुरयान हुई छावा॥
गात अँधियार रैनि मसि छूटी।
भा भिनसार किरन रवि फूटी॥"

मारिफत की अवस्था अन्तिम अवस्था है। इसके सम्बन्ध में हुजविरी का मत है कि यह दो प्रकार की होती है। एक तो हाली दूसरी इल्मी जायसी ने निम्नलिखित पंक्तियो में हाली मारिफत की अवस्था का संकेत किया है—

"जोगी द्रष्टि द्रष्टि सो लीन्हा,
नैन रोपि नैनहिं जिउ दीन्हा।
जहि मद चढ़ा परातेहि पाले,
सुधि न रही ओहि एक पियाले ॥"

इन पंक्तियों मे कवि ने हाल की दशा का अच्छा वर्णन किया है।

हाल के सूफियों ने दो पक्ष बतलाए हैं—त्याग पक्ष और प्राप्ति पक्ष। त्याग पक्ष की भी तीन स्थितियाँ मानी गई है—फना, फकद और सुक्र। फना में साधक को अपनी सत्ता का ज्ञान नही रहता। फकद में अहं भाव का नाश हो जाता है। सुक्र की अवस्था में साधक प्रेम मद में मतवाला हो जाता है। इसी प्रकार प्राप्ति पक्ष की भी तीन स्थितियाँ मानी गई है—बका वज्द और शह्व। बका उस स्थिति को कहते है जब साधक की परमात्मा में स्थिति होने लगती है। वज्द में परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है। शह्व में पूर्ण शान्ति मिल जाती है। जायसी की कथा में हाल की यह समस्त अवस्थाएँ प्रतिबिम्बित मिलती है। इनका हम क्रमशः संकेत कर सकते है। ऊपर अभी जो उदाहरण दिया है उसमें हाल के त्याग पक्ष की तीनों स्थितियों का आभास मालूम पड़ता है। इन स्थितियों का अलग-अलग संकेत भी जायसी की कथा में मिलता है। फना मे साधक को पूर्ण आत्म-विस्मृति हो जाती है। निम्नलिखित पंक्तियों में देखिए फना की स्थित का ही चित्रण किया गया है—

"बूँद समुद्र-जैस होई मेरा,
गा हिराइ अस मिलै न हेरा।

रंगहि पान मिला जस होई,
आपहि खोय रहा होई सोई।"

इसी प्रकार फकद की स्थिति का वर्णन देखिए। इस स्थिति में साधक के अहंकार का नाश हो जाता है वह सोहं रूप हो जाता है। जायसी कहते हैं—

"बाउर अँध प्रेम कर लागू,
सौहं धंसा किछु सूझ न आगू।"

इसी प्रकार सुक्र की अवस्था के उदाहरण मिलते है—

"काया जो परम तंत मन लावा।
घूम माति सुनि और न भावा॥
जस मद पिए घूम कोई नाद सुनै पै घूम।
तोह ते बरजे नीक है चढे रहंसि के दूम॥"

इसी प्रकार हाल के त्याग पक्ष की तीन स्थितियों के चित्र जायसी की कथा में ढूंढने से सरलता से मिल जाती है। बका की स्थिति का वर्णन देखिए। रतनसेन बिलकुल पद्मावती में लीन है। इसीलिए वह मृत्यु से जरा भी नही डरता। जो ब्रह्म रूप हो चुका है। मृत्यु उसका कर भी क्या सकती है। इसीलिए रतनसेन सूली देखकर प्रसन्न होता है—

"जाकर जीउ मरै पर बसा।
सूली देख न सो रस हँसा॥
आजु नेह सो होय निबेरा।
आज पुहुमि तज गगन बसेरा॥"

वज्द की अवस्था इसके बाद की है। इसमे पहुँचकर साधक को साध्य की प्राप्ति हो जाती है। 'पद्मावत' में वज्द की अवस्था का वर्णन पद्मावती मिलन-खण्ड में माना जायगा। शह्व की स्थिति का सही चित्र जायसी में

नहीं मिलता। इसका कारण यह है कि जायसी का साधक सिद्धि प्राप्त करके भी पुनरावर्तन करता है। वह तद्रूप नहीं हो जाता। मिलन की आगे की कथा उसी पुनरावर्तन को लेकर चलती है। साधक पद्मावती रूपी सिद्धि को प्राप्त करके उसे चित्तौड़गढ़ में लाने का प्रयत्न करता है। जब सिद्धि की अनुभूति हाल की हालत में होती रहती है तब तक उसे आनन्द और शान्ति दोनों की अनुभूति होती है। किन्तु दूसरा पक्षी रूपी कोई लौकिक व्यक्ति उसे नागमती रूपी लौकिकता का सन्देश दे देता है तो उसके पुराने संस्कार फिर जाग्रत हो जाते है और साधक अपनी सिद्धि के साथ शरीर रूपी चित्तौड़गढ की ओर ज्यो ही पुनरावर्तन करता है त्यो ही आपत्तियों के बादल उसके जीवनाकाश में मँडराने लगते है। उसे अपनी पद्मावती रूपी सिद्धि की रक्षा के लिए बड़े युद्ध करने पड़ते हैं। अन्त में वह ऐसे ही एक युद्ध मे मारा भी जाता है। इस प्रकार कथा का पूर्वार्द्ध कथा के उत्तरार्ध मे भिन्न है। पूर्वार्द्ध मे सूफी-साधना की अन्योक्ति का अच्छा निर्वाह मिलता है, किन्तु उत्तरार्ध मे कथा उपदेशात्मक अधिक है, आध्यात्मिक कम। उत्तरार्ध में कवि यही दिखाना चाहता है कि जो साधक सिद्धि प्राप्त करके भी फिर सांसारिकता रूपी नागमती के मोह मे फँस जाता है उसका परिणाम दुखद होता है। इस प्रकार सूफीसाधना का जायसी की कथा से पूरा मेल बैठता मालूम पड़ता है। अतः जायसी की अन्योक्ति का सांकेतिक अर्थ सूफ़ी-साधना के आधार पर लगाया जाना चाहिए।

जायसी की अन्योक्ति के सूफी साधना परक अर्थ के बीच कहीं हठयोग की व्यञ्जना:—जायसी की अन्योक्ति को सूफी साधना के ढंग पर स्पष्ट करते समय कही-कही ऐसा लग सकता है कि उनकी अन्योक्ति कही हठयौगिक अर्थो की भी व्यञ्जना करती है। उदाहरण के लिए सिंहलगढ का वर्णन लिया जा सकता है। जायसी के सिंहलगढ़ का वर्णन करते समय उसकी उपमा शरीर से दी है। इसमें कोई सन्देह नही कि

जायसी हठयोग से भी बहुत अधिक प्रभावित थे। उनका सिंहलगढ का वर्णन निश्चय ही हठयोग से प्रभावित है। हमारी समझ में इसका कारण यह था कि सूफी-साधना में साध्य या उपास्य का कोई विशेष निवास-स्थान नहीं होता। वह साधक के हृदय की सम्पत्ति होती है। इसीलिए जायसी ने सिंहलगढ को हृदय का प्रतीक माना है। जैसा कि हम अभी लिख चुके है जायसी योग से अधिक प्रभावित थे। यही कारण है कि सिंहल को हृदय का प्रतीक मानते हुए भी वे उसका वर्णन करते समय उसके हठयौगिक साम्य का उल्लेख करने के लोभ का सवरण नही कर सके। किन्तु इससे अन्योक्ति को कोई विशेष धक्का नही पहुँचा हैं। जायसी पर भारतीय मायावाद का भी प्रभाव था; यही कारण है कि उनकी अन्योक्ति के अन्तर्गत माया का वर्णन भी हम पाते हैं। हमारी समझ में जायसी की अन्योक्ति एक ओर तो सूफी साधना का साकेतिक अर्थ अभिव्यजित करती है और दूसरी ओर वह कुछ मनोवैज्ञानिक तथ्यों की ओर संकेत करती है। जायसी ने कथा के मनोवैज्ञानिक पक्ष का ही उद्घाटन किया है। उसके सूफी साधनापरक अर्थों की तथा हठ-यौगिक बातों की व्यंजना अपनी तरफ से करनी पड़ेगी। तभी सम्पूर्ण कथा एक अन्योक्ति मालूम पड़ेगी। इन तीनों के सामजस्य से अन्योक्ति को स्पष्ट करने पर भी ऐसा अनुभव होता है कि सम्पूर्ण कथा में अन्योक्ति का सफलता पूर्वक निर्वाह नही हो सका है। इसके सम्भवतः निम्नलिखित कारण थे।

(१) जायसी को जितना अन्योक्ति बाधने का लोभ था उतना ही अधिक कथा के विस्तार करने का भी। कही-कहीं कथा के विस्तार में वे ऐसी बुरी तरह फँस गए है कि वहाँ के अन्योक्ति के अनुरूप कथा को नही ढाल सके है।

(२) जायसी सूफी साधना, हठयोग, भारतीय वेद-शास्त्र और वेदांत दर्शन आदि न मालूम किन-किन बातों से प्रभावित थे। वे अपनी कथा

में इन सबकी यथास्थान व्यंजना करना चाहते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि स्थान-स्थान पर अन्योक्ति का क्रम टूट गया और समासोक्ति की व्यंजना पाई जाने लगी।

(३) जायसी के 'पद्मावत' की कथा अत्यधिक भावपूर्ण और रोचक है। कही-कही कवि कथा के रस में इतना अधिक डूब गया है कि उसे अन्योक्ति के निर्वाह का ध्यान ही नही रहा है।

(४) जायसी ने एक साथ अन्योक्ति के दो तीन सांकेतिक अर्थ प्रकट करने की चेष्टा की है। इस बात को अच्छी तरह से स्मरण रखना चाहिए कि जायसी का 'पद्मावत' लिखने में प्रत्यक्ष लक्ष्य केवल कथा-मात्र कहना था जैसा कि कथा के उपोद्घात में ही उन्होंने कहा है। किन्तु परोक्ष लक्ष्य अपने सूफी सिद्धान्तों का हिन्दुओं में प्रचार करना भी था। इसीलिए उन्होने कथा के माध्यम से अन्योक्ति के सहारे सूफी साधना का सुन्दर सकेत किया है। यदि हम जायसी की अन्योक्ति की विवेचना सूफी साधना के प्रकाश में करें तो हम उसे सफल मानेंगे। अब प्रश्न यह है कि फिर जायसी ने अपनी अन्योक्ति का जो सुलझाव दिया है वह उनकी सूफी साधनापरक क्यों नही है ? वास्तव में प्रत्यक्ष ऐसा नहीं कर सकते हैं। यदि वे ऐसा करते तो हिन्दू लोग उनकी कहानी को पढ़ते ही नहीं। अतएव उन्हे अपनी कहानी का आध्यात्मिक अर्थ हिन्दुओंकी विचार-धारा के अनुरूप ढालना पड़ा। हिन्दुओं मे उस समय योग और वेदान्त की मान्यता अधिक थी। गीता का भी बहुत प्रचार था। उन्होंने अपनी अन्योक्ति का जो सुलझाव दिया है वह पूर्ण भारतीय है। पद्मावती को उन्होंने समत्व बुद्धि का साकार रूप माना है। रतनसेन मन का प्रतीक कहा गया है। मन जब समत्व बुद्धि को प्राप्त कर लेता है तभी वह ब्रह्ममय हो जाता है। यही सिद्धावस्था है गीता मे इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया। ऊपर हम गीता के इस सिद्धान्त का सकेत कर चुके है। जायसी अपनी कथा मे प्रत्यक्ष रूप से इस सिद्धान्त की भी व्यजना

करना चाहते थे क्योंकि वे जानते थ कि यदि उनकी कथा से हिन्दू सिद्धान्तों के अनुरूप अर्थ न निकला तो पण्डित लोग उसकी प्रशंसा नही करेंगे। पण्डितो के द्वारा प्रशसित न होने पर उनके काव्य का प्रचार हो ही नही सकता था। इसीलिए उन्होने पण्डितों की चापलूसी-सी की है। अपने को पण्डितों के 'पिछलगा' कह उन्होने पण्डितो के अभिमान भाव की परितुष्टि की है। अन्योक्ति का उपयु क्त भारतीय ढग का मुलभाव देते समय भी उन्होने उसका श्रेय पण्डितों को ही दिया है—

"मैं एहिं अरथ पण्डितन्ह बूझा।"

इस प्रकार स्पष्ट है कि जायसी प्रत्यक्ष रूप से अन्योक्ति को हिन्दू-विचार-धारा के अनुरूप दिखलाना चाहते थे, किन्तु उनका प्रधान लक्ष्य सूफी साधना की अन्योक्ति के सहारे व्याख्या करनी थी। एक कथा से दो आध्यात्मिक अर्थ की व्यञ्जना करने के प्रयास मे लगे हुए जायसी कही-कही तीसरा योगपरक अर्थ भी ध्वनित करने मे लग गए है। एक साथ दो या तीन आध्यात्मिक अर्थों की व्यञ्जना करने की चेष्टा करते हुए जायसी कही एक अर्थ में इतना तन्मय हो गए है कि दूसरे अर्थ का निर्वाह नही कर सके। इसके अतिरिक्त जायसी का लक्ष्य इस्लाम के महत्त्व का प्रतिपादन करना भी था। प्रौपैगण्डा के भाव से प्रेरित होने के कारण वे बहुत-से स्थलो पर इस बात को बिलकुल भूल गए है कि वे एक लम्बी-चौडी अन्योक्ति कथा लिख रहे है।

इन्ही सब कारणों से जायसी की अन्योक्ति उतनी अधिक सक्षम और साग नही मालूम पड़ती जितनी कि होनी चाहिए थी। किन्तु इसमे कोई सन्देह नही है कि वह है एक अन्योक्ति ही। अन्योक्ति के सहारे कवि ने सूफी साधना हठयौगिक साधना तथा मनोविज्ञान आदि के बडे रहस्य पूर्ण तथ्यों का सकेत किया है। इससे कथा की रहस्यात्मकता और भी बढ गई है। मेरी समझ मे सम्पूर्ण कथा का इस ढंग का रहस्यपूर्ण एवं आध्यात्मिक निर्वाह जायसी से पहले किसी कवि मे नही मिलता।

निश्चय ही कथात्मक रहस्यवादियो मे जायसी अग्रगण्य कहे जा सकते है।

जायसी के आध्यात्मिक रहस्यवाद की समासाक्ति मूलक कथा शैली

समासोक्ति—कथात्मक रहस्यवाद की अभिव्यक्ति का एक दूसरा ढंग भा है। कवि कथा के बीच बीच मे आध्यात्मिक सकेत करता चलता है। यह आध्यात्मिक संकेत किसी क्रम से नही होते है। कभी तो वह मयावाद की व्यञ्जना करदेता है कभी सूफी साधना सम्बन्धी कोई बात कह देता है और कभी किसी अन्य साधना पद्धति से सम्बन्धित बात ध्वनित करता है। किन्तु इस सभी प्रकार के आध्यात्मिक संकेतो मे एक विचित्र और मधुर रहस्यात्मकता पाई जाती है। अपनी इसी रहस्यात्मकता के कारण लौकिक कथा भी कही कही अलौकिक सी लगने लगती है। प्रस्तुत कथा के बीच लाक्षणिकता और व्यञ्जनात्मकता के कारण जहाँ कही अप्रस्तुत रहस्यात्मक भावो की अभिव्यक्ति की जाती है वहाँ अलंकारिक समासोक्ति अलकार की अवस्थिति मानते है। यह अलंकार अन्योक्ति का बिल्कुल उलटा माना जाता है। अतएव साधारणतया जहाँ अन्योक्ति की योजना की जाती है वहाँ समासोक्ति के लिए कोई स्थान नहीं रहता। किन्तु जायसी ने अन्योक्ति और समासोक्ति दोनों की सुन्दर योजना की है। हम अभी ऊपर स्पष्ट कह चुके है कि जायसी अपनी कथा मे सर्वत्र अन्योक्ति का निर्वाह नही कर सके है। कथा के स्थूल रूप को यदि ले तो वह किसी प्रकार अन्योक्ति सिद्धि की जा सकती है। किन्तु कथा के सूक्ष्म स्वरूप में हम सफलता पूर्वक अन्योक्ति घटित नही कर सकते, क्योंकि कथा के बहुत से अंश ऐसे है जिनमें बहुत दूर दूर तक लौकिक कथा के अतिरिक्त किसी आध्यात्मिक अर्थ की व्यञ्जना नही मिलती। ऐसे स्थानो पर वे इस बात को बिल्कुल भूल गए है कि वे कथा को अन्योक्ति के रूप मे भी लिख रहे है। किन्तु

ऐसे प्रसंगों के लिखते समय जब कभी उन्हें कथा के आध्यात्मिक पक्ष की याद आ जाती है, बस वहीं वे एकाध पंक्ति ऐसी डाल देते है जो किसी रहस्यपूर्ण सांकेततिक अर्थ की व्यञ्जना करती है। बृहत् प्रबन्ध काव्य लिखने वालों में प्राय. यह दोष आ जाता है कि वे कथा के प्रवाह और रोचकता में अपने मूल लक्ष्थ को भूल जाते है और कथा में पूर्ण तन्मय हो जाते ह किन्तु जब उन्हें होश आता है तभी वह अपने लक्ष्य की कुछ पंक्तियों में व्यञ्जना कर देते हैं। तुलसी ने अपने मानस की रचना भगवान् राम के भक्तों के उपास्य स्वरूप की प्रतिष्ठा करने के लिए की थी। किन्तु बीच-बीच में कथा के प्रवाह में पडकर वे अपने लक्ष्य को बिल्कुल भूल जाते है किन्तु जब होश आता है तब एकदम याद दिला देते है कि राम मानव नही भगवान है। यही हालत जायसी की है। कथा की रोचकता में वे इतना डूब जाते है कि उन्हें होश ही नहीं रहता उनका लक्ष्य कथा के सहारे किन्हीं आध्यात्मिक बातों की व्यंजना करना भी है। जब कभी इस बात का स्मरण हो आता है तभी वे एकाध वाक्य ऐसा लिख देते है जिससे अप्रस्तुत की व्यञ्जना होती है।

जायसी की समासोक्तियाँ—अब हम जायसी की समासोक्तियो पर विचार करना चाहते है। कथा का प्रारम्भ सिंहल द्वीप के वर्णन से किया गया है। कवि सिंहल द्वीप का वर्णन करते हुए वृक्षों की छाया का प्रसंग आते ही अप्रस्तुत की ओर संकेत कर देता है—

"जेई वह पाई छाँह अनूपा।
फिरि नहि आइ सहैं वह धूपा॥"

इसी खण्ड में कवि ने मानसरोदक का वर्णन करते समय भी उस की अलौकिकता की ओर संकेत किया है। इस वर्णन को पढ़ते-पढ़ते ऐसा लगता है कि जायसी मानसरोदक के वर्णन के सहारे सहस्रार और ब्रह्मरंध्र का संकेत कर रहे है—

"फूला कँवल रहा होइ राता।
सहस सहस पखुरिन कर छाता।।
उलथहि सीप मोति उतराही।
चुगहि हँस और केलि कराही।।"

इसी खण्ड में हाट का वर्णन करते-करते जायसी संसार की ओर संकेत करने लगते हैं—

"कोई करै बिसाहना काहू केर विकाय।
कोई चलै लाभ सन कोई मूर गँवाय।।"

इसी खण्ड में कवि ने सिंहल गढ़ का रहस्यात्मक वर्णन भी दिया है। सिंहल गढ़ का यह वर्णन पूर्ण हठयौगिक है और इसीलिए बड़ा ही रहस्यात्मक हो गया है। जायसी के हठयौगिक रहस्यवाद का विवेचन करते समय इस पर विस्तार से विचार करेंगे। इस प्रकार हम देखते हैं एक ही खण्ड में कवि ने प्रस्तुत कथा के प्रसंग में अप्रस्तुतों की व्यञ्जना की है। इसीलिए ऐसे स्थलों पर समासोक्ति अलंकार हो गया है। साथ ही सम्पूर्ण प्रसंग ही रहस्य पूर्ण प्रतीत होने लगता है।

जायसी में समासोक्ति का समावेश उनकी अन्योक्ति के कारण भी हुआ है। अन्योक्ति का स्पष्ट करते समय हम लिख चुके हैं कि जायसी की पद्मावती समत्व बुद्धि रूपी परमात्मा की प्रतीक है। पद्मावती का लौकिक वर्णन करते करते वे अन्योक्ति के इस प्रतीक की ओर भी संकेत कर देते है। जैसे जन्म खण्ड में पद्मावती का नख-शिख-वर्णन करते-करते वे उसके ब्रह्मत्व की ओर संकेत करने लगते हैं—

"जग कोई दीठि न आवै आछैनैन अकास।
जोग जती सन्यासी तप साधहि तेहि आस।"

जायसी ने बहुत-से स्थलो पर समासोक्ति की योजना सूफी विचार-धारा की अभिव्यक्ति के हेतु भी की है। सूफी लोग प्रेम को ही मूल तत्त्व मानते है। और उस दिव्य प्रेम की अभिव्यक्ति के लिए दाम्पत्य-प्रतीक

का आश्रय लेते हैं। वे परमात्मा को प्रियतम और अपने को प्रेमिका मानते है। इसी प्रतीक के आधार पर वे इस लोक को नैहर और उस लोक को प्रियतम का लोक मानते है। जायसी ने इस भाव की व्यञ्जना अनेक स्थला पर बडे रहस्यात्मक ढग से की है। मानसरोदक खण्ड के प्रारम्भ में ही वे लिखते है—

"ऐ रानी मनु देखि विचारी।
ए नैहर रहना दिन चारी॥
जौ लागि अहै पिता का राजू।
खेल लेहु जो खेलहु आजू॥

पुान सासुर हम गवनब काली।
कित हम कित यह सरवर पाली॥
कित आवन पुनि अपने हाथा।
कित मिलकै खेलब एक साथा॥"

सूफी लोग उपास्य का स्वरूप सगुण और निर्गुण दोनों को मानते है। सगुण इस रूप मे कि वह दिव्य सौन्दर्य सम्पन्न होता है, निर्गुण इस रूप में कि लोक में उसकी प्रतिष्ठा नही होती। सूफी साधक का उपास्य रूप ठीक वैसा ही होता है जैसा कि गुरु शिष्य के हृदय मे भर देता है। जायसी ने अपनी अन्योक्ति में पद्मावती को बुद्धि का प्रतीक माना है। बुद्धि का साकार रूप ही पद्मावती है। बुद्धि को परमात्मा का रूप मानकर जायसी ने पद्मावती के लौकिक वर्णनो के बीच उसके अलौकिक रूप की ओर भी सकेत किया है। मानसरोवर-खण्ड मे उसके रूप की अलौकिकता का बड़े विस्तार से उल्लेख किया गया है। पद्मावती ब्रह्म रूप है अतः सारी सृष्टि यहाँ तक कि जड़ मानसरोवर भी उसके चरणो तक पहुँचने की चेष्टा करता है—

"सरवर रूप विमोहा।
हिये हिलोरहि लेइ॥
पाद छुवै मकु पावौ।
एहि मिसि लहरहि देहि॥"

इसी प्रकार इस खण्ड के अन्तिम अवतरण में भी पद्मावती के ब्रह्मत्व का संकेत किया गया है—

"कहा मानसर चाह सो पाई।
पारस रूप यहा लगि आई॥
नयन जो देखा कवल भा निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हंस भा दसन ज्योति नग हीर॥"

अन्य सैकडो स्थलो पर भी पद्मावती के लौकिक वर्णनों के बीच उसकी दिव्यता एवं अलौकिकता अभिव्यञ्जित की गई है।

जायसी ने कभी कभी अप्रस्तुत भावो की व्यञ्जना के लिए श्लेष का भी उपयोग किया है उदाहरण के लिए हम निम्नलिखित पंक्तियाँ ले सकते है—

"काहेक भोग विरछ अस फरा।
आउ लाइ पंखिन कह घरा॥"

यहाँ पर भोग पर श्लेष है। भोग का एक अर्थ केला है और दूसरा विषय-वासना। इस प्रकार और भी बहुत से उदाहरण 'पद्मावत' में पाए जाते हैं एक उदाहरण इस प्रकार है—

"घातु कमाय सिखैतै जोगी।
अब कस भा निरधातु वियोगी॥"

एक दूसरा वर्णन भी ठीक इसी प्रकार का है—

"का पुँछहु तुम घातु निछोही
जो गुरु कीन्ह अन्तर पर ओही।"

इन अवतरणों में धातुओं का उल्लेख श्लेष के सहारे किया गया। इनका एक अर्थ तो धातुपरक निकलता है और दूसरा आध्यात्मिक। इन्हें भी हम एक प्रकार की श्लिष्ट समासोक्ति ही मानेंगे।

कही-कही जायसी ने भारतीय दर्शनों की बातो की भी व्यञ्जना की है। भारतवर्ष में सदा से दो मार्ग रहे है—प्रवृत्ति मार्ग और निवृत्ति मार्ग। देखिए जायसी ने उनका कितने मधुर ढग से उस ओर संकेत किया है—

"दुई मारगू देखौ एहि हाटा।
दई चलावै दहु केहिहि बाटा ॥"

इसी प्रकार अद्वैतवाद की भी व्यञ्जना की है नागमती रतनसेन से कहती है—

"मैं जानेउ तुम्ह मोहि माहा।
देखौ ताकि तो हो सब पाहा ॥"

इसी प्रकार देखिए निम्नलिखित अवतरण में जायसी ने मायावाद और अद्वैतवाद आदि की कितनी भावात्मक व्यञ्जना की है—

"जब लगि गुरु हौ अहा न चीन्हा।
कोटि अन्तर पट बीचहि दीन्हा ॥
जब चीन्हा तब और न कोई।
तन मन जिउ जीवन सब सोई ॥
हौ हौ करत धोक इतराई।
जब भा सिद्ध कहा पर छाई ॥
मारै गुरु कि गुरु जियावै।
और को मार मरै सब आवै ॥
सूरी मेलि हरित कर चूरू।
हौ नहि जानौ जानै गुरू ॥"

इस प्रकार और भी बहुत-से स्थलो पर जायसी ने कथा-प्रसंगों के बीच गूढ आध्यात्मिक सिद्धान्तो की व्यञ्जना की है। यह समस्त वर्णन आध्यात्मिक रहस्यवाद के अन्तर्गत आते हैं।

जायसी ने सूफी सिद्धान्तों की व्यञ्जना स्थान-स्थान पर समासोक्ति के सहारे की है। हकीकत की अवस्था का यह वर्णन देखिए—

"सतएँ समुद मानसर आए।
मन जो कीन्ह साहस सिधि पाए॥
देखि मानसर रूप सुहावा।
हिय हुलास पुरअनि हुई छावा॥
गा अँधियार रेनि मसि छूटी।
भा भिनसार, किरनि रवि फूटी॥
'अस्ति' 'अस्ति' सब साथी बोले।
अंध जो अहा नैन विध खोले॥

इसी प्रकार हाल की हालत के सुन्दर सकेत भी मिलते हैं। एक वर्णन इस प्रकार है—

"काया जो परम तत्त मन लावा।
घूमि माति सुन. और न भावा॥
जस मद पिए घूमि कोई नाद सुनै पै धूम।
तेहि के बरजे नीक है चढे रहास के दूम॥"

इसी प्रकार सूफी विचार-धारा और साधना की बहुत-सी बातों का सकेत जायसी ने समासोक्तियो के सहारे किया है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जायसी ने कथा के बीच-बीच मे समासोक्ति के सहारे रहस्यात्मक आध्यात्मिक अर्थों की व्यञ्जना की है। यह सब उदाहरण आध्यात्मिक रहस्यवाद के अन्तर्गत आयँगे।

जायसी के आध्यात्मिक रहस्यवाद में आध्यात्म की भावात्मक विवेचना:—जायसी भावुक संत कवि थे। प्रेम उनकी साधना का प्राण था और अध्यात्म उनके जीवन का प्रिय विषय। इनकी रचनाओ में बहुत-से स्थलो पर प्रेम और आध्यात्मिकता का सुन्दर गठबन्धन दिखाई पड़ता है। जहाँ-कही भी प्रेम भाव ने उनकी अध्यात्म-विवेचना को आक्रान्त कर लिया है, वहीं सुन्दर भाव-प्रधान विवेचनात्मक आध्यात्मिक रहस्यवाद की मधुर व्यञ्जना हो गई है।

ब्रह्म—ब्रह्म के भावात्मक वर्णन उपनिषदो मे भी पाए जाते है। ब्रह्म के विभावनात्मक वर्णन प्राय. भाव-प्रधान होते है। उपनिषदो म '*अपाणि पादो जीवनो ग्रहीत*' आदि अनेक विभावनात्मक वर्णन मिलते है। भावुक जायसी भला अपने 'गुसाईं' के ऐसे भावात्मक वर्णन करना कैसे भूल सकते थे। उनके विभावनात्मक वर्णन वास्तव में बड़े ही मधुर और मनोरम है—

"एहि विधि चीन्हहु करहु गियानू।
जस पुरान महँ .लिखा बखानू ॥
जीउ नाहिं पै जिए गुसाईं।
कर नाहीं पर करै सबाईं ॥

जीभ नाहीं पै सब कुछ बोला।
तन नाहीं सब ठाहर डोला ॥
स्रवन नाहि पै सब कुछ सुना।
हिया नाहिं पै सब कुछ गुना ॥

नयन नाहिं पै सब कुछ देखा।
कौन भाति अस जाय विशेषा ॥
है नाहीं कोई ताकर रूपा।
ना ओहि सनु कोई आहि अनूपा ॥

ना ओहि ठाउँ न ओहि बिन टाऊँ।
रूप रेख बिन निरमल नाऊँ॥
ना वह मिला न वे हरा ऐस रहा भर पूरि।
दीठिवेत कह नीयरे अंध मूरखहि दूरि॥"

ब्रह्म के भावात्मक वर्णनों के अन्तर्गत उनका विराट रूप भी आता है। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में इस रूप के सुन्दर चित्र मिलते है। भगवान् का विराट् रूप निश्चय ही बडा भावात्मक होता है। जायसी ने प्रत्यक्ष रूप से तो इस रूप का वर्णन नही किया है, किन्तु पद्मावती को ही विराट ब्रह्म का प्रतीक मानकर उसका भावपूर्ण साकेतिक चित्र खीचा है। इस प्रकार का सबसे प्रसिद्ध वर्णन निम्न लिखित है—

"कहा मानसर चाह सो पाई।
पारस रूप यहा लगि आई॥
भा निरमल तिन्ह पायन परसे।
पावा रूप रूप के दरसे॥
मलय समीर बास तन आई।
भा सीतल गै तपनि बुझाई॥
ततखन हार वेगि उतिराना।
पावा सखिन्ह चन्द विंहसाना॥
विगसा कुमुद देखि ससि रेखा।
भई तहँ ओप जहा जेई देखा॥
पावा रूप रूप जस चाहा।
ससि मुख जनु दरपन होइ रहा॥
नयन जो देखा कँवल भा निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हंस भा दसन ज्योति नगहीर॥"

इस अवतरण में जायसी नें पद्मावती का चित्रण विराट् ब्रह्म के

रूप में किया है। उपनिषदों ने '*तस्य भास्यमिदं विभाति*' कहकर ब्रह्म की विराट् ज्योति का ही सकेत किया गया है। इस अवतरण में विराट् ब्रह्म के ज्योति स्वरूप का भी संकेत किया गया है। अन्तिम पंक्तियों में उसके उसी रूप की व्यञ्जना की गई है। उसीके सहारे प्रतिबिम्बवाद का सिद्धान्त भी स्पष्ट किया गया है।

जायसी ने ब्रह्म के सौन्दर्यात्मक और प्रेमात्मक रूप की भी व्यजना अनेक स्थलो पर की है। ऊपर अभी-अभी जो उद्धरण उद्धृत किया गया है उसमे भी उसके सौन्दर्यमय होने की ध्वनि निकलती है। नखशिख वर्णन के प्रसग मे विराट् ब्रह्म के सौदर्यात्मक रूप की व्यञ्जना की गई है। माँग का वर्णन करते हुए जायसी कहते हैं कि लोग करपत्र साधना करते है कि कदाचित् उनके रक्त का सिन्दूर बन जाय और उसी सिन्दूर को वह मस्तक पर चढा ले। फलोत्प्रेक्षा के सहारे पद्मावती का ब्रह्मत्व व्यञ्जित किया गया है। इसी प्रकार समस्त नक्षत्रो को उसी माँग की साधना मे उदित हुआ बतलाकर वे उसके सौन्दर्य को विराट्ता की ओर ही सकेत करते है—

"कनक दुवादस बानि होई चह सोहाग वह माँग।
सेवा करहि नखत सब उवै गगन जस गाँग॥"

इसी प्रकार उस विराट् ब्रह्म रूप की पद्मावती के नेत्रों के डोलने से सारा संसार डोल पड़ता है—

"जग डोलत डोलै नै नाहा।
उलटि अडार जाहि पल माहा॥
जब फिराहि गगन गहि बोरा।
असवै भौंर चक्र के जोरा॥"

उस विराट् ब्रह्म रूपी पद्मावती के दशनों की शोभा से सूर्य, चन्द्रमा और नक्षत्र तक ज्योतिर्मय रहते है—

"जेहि दिन दसन ज्योति निरभई।
बहुतै ज्योति ज्योति ओहि भई॥
रवि ससि नखत दिपहि वह ज्योती।
रतन पदारथ मानिक मोती॥
जहँ-तहँ विहँसि सुभावहि हँसी।
तहँ-तहँ छिटकि ज्योति परगसी॥
दामिनि दमकि न सरवर पूजी।
पुनि ओहि ज्योति और को पूजी॥"

इस प्रकार जायसी ने ब्रह्म के विराट सौन्दर्य का अतिशयोक्ति, हेतूत्प्रेक्षा आदि के सहारे अच्छा वर्णन किया है।

जायसी ने अपने ब्रह्म की महानता और विशालता के भी भावात्मक वर्णन प्रस्तुत किये है। उनका ब्रह्म इतना विशाल है इतना ऊँचा है कि संसार के समस्त चर-अचर उस तक पहुँचने की चेष्टा करते रहते है किन्तु फिर भी नही पहुँच पाते है—

"धाय जो बाजा कै मन साधा।
मारा चक्र भएउ दुई आधा॥
चांद सुरज और नखत तराई।
तेहि डर अन्तरिख फिरहि सबाई॥
पौन जाइ तह पहुँचै चहा।
मारा नैस लोट भुईं रहा॥
आगनि उठी जरि उठो नियाना।
धुँवा उठा उठि बीच विलाना॥
पानि उठा उठि जाइ न छूबा।
बहुरा रोइ आइ मुँई चूवा॥"

जायसी ने अपने ब्रह्म की अद्वैतता का भी भावात्मक वर्णन किया है—

"आपुहिं मचि जियन पुनि,
आपुहि तन मन सोइ।
आपुहिं आपु करै जो,
वहा सो दूसरे कोइ॥"

जायसी का अद्वैत ब्रह्म ही उनका प्रियतम है और उसके दर्शन हृदय मे हो सकते है—

"काया उदधि चितव पिउ माहा।
देखो रतन सो हिरदय माँहा॥
जानहु आहि दरपन मोर हीया।
तेहि मह दरस दिखावै पीया॥
नैन नियर पहुँचत सुठि दूरी।
अब तेहि लागि मरौ मैं भूरी॥
पिउ हिरदय मह भेद न होई।
कोई रे मिलाव कहौ केहिं रोई॥"

इस प्रकार हम कह सकते है कि जायसी मे ब्रह्म के बहुत-से अत्यन्त रहस्यपूर्ण भावात्मक वर्णन मिलते है। यह सब वर्णन उनके विवेचनात्मक आध्यात्मिक रहस्यवाद के प्राण कहे जायँगे।

जीव—जीव ससार आदि विषयो को लेकर लिखे गए, भावात्मक रहस्यपूर्ण वर्णन जायसी मे कम मिलते है। जायसी ने जीव का वर्णन अगर भावात्मक ढगं से किया भी है तो वह साधक जीव का ही है। जीव के स्वतन्त्र गुणो का कही भी भावात्मक ढग से उल्लेख नहीं किया गया है। मानसरोदक खण्ड में कवि ने मानसरोवर के रूप में साधक जीव का भावपूर्ण चित्रण किया है—

"भा निरमल तिन्ह पाँयन परसे।
पावा रूप रूप के दरसे॥

मलय समीर वास तन आई।
भा सीतल गै तपन बुझाई ॥"

इन पंक्तियों से प्रकट होता है कि जीव ससार मे माया से बद्ध होने के कारण कलुषित रहता है, किन्तु ब्रह्म का साक्षात्कार होते ही उसके समस्त कालुष्य नष्ट हो जाते है। वह ब्रह्म रूप हो जाता है। जायसी ने जीव का वर्णन एकाध स्थलो पर तोते के प्रतीक से भी किया है—

"उड़ि यह सुअटा कहँ बसा खोज सखी सो बासु।
दुहुं है धरती की सरग पौन न पावै तासु ॥

चहूँ पास समझावहि सखी।
कहॉ सो अब पाउव गा पखी ॥

जौ लहि पींजर अहा परेवा।
रहा बंदि मह कीन्हेसि सेवा ॥

तेहि बंद हुत छुटै जो पावा।
पुनि फिरि बंदि होइ कित आवा ॥

वै उड़ान परि तहिए खाए।
जब भा पैखि पांख तनि आए ॥

पीजर जेहिक सौपि तेहि गएउ।
जो जाकर सो ताकर भएऊ ॥

दस दुवार जेहि पीजर मांहा।
कैसे वाच मजारी पाहां ॥

यह धरती अस के तन लीला।
पेट गाढ़ि अस बहुरि न ढीला ॥"

इस उपर्युक्त अवतरण में जीव और शरीर तथा दोनों के सम्बन्ध पर भावात्मक विचार किया गया है। भाव की प्रधानता होने के कारण यह वर्णन रहस्यवाद के अन्तर्गत आता है।

जायसी ने आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध का भी भावात्मक निरूपण किया है। वह इस प्रकार है—

"मैं जानेउ तुम मोहीं माहाँ।
देखौ ताकि तो हौ सब पांहा॥"

यहाँ पर कवि ने 'मै' और 'तुम' की एकता प्रतिपादित की है, साथ ही जीव की ससीमता और परमात्मा की सर्वव्यापकता भी ध्वनित की है।

जायसी ने इस ससार का वर्णन हाट के प्रतीक से किया है। इस हाट से दो मार्ग जाते है। यह मार्ग सम्भवतः गीता की दो निष्ठाएँ हैं—

"दुई मारग देखौ एहि हाटा।
दई चलावै दहु केहि बाटा॥"

जायसी ने ससार का वर्णन नैहर के प्रतीक से भी किया है।

"ऐ रानी! मन देखु विचारी।
यहि नैहर रहना दिन च ी॥"

गत् और ब्रह्म का सम्बन्ध—जायसी ने जगत् और ब्रह्म के सम्बन्ध पर प्रकश डालने की चेष्टा की है। वे जगत् की अलग सत्ता नहीं मानते है। वास्तव मे भ्रम के कारण ब्रह्म और जगत् भिन्न-भिन्न प्रतीत होते है। किन्तु जब ज्ञान का उदय होने लगता है तब वह भेद स्वयं मिट जाता है—

"जब चीन्हा तब और न कोई।
तन मन जिऊ जीवन सब सोई॥

'हौ हौं' कहत धोक इतराही।
जब भा सिद्ध कहाँ परछाई॥"

वेदान्त में ब्रह्म और जगत् के सम्बन्ध पर विचार करते हुए प्रतिबिम्बवाद का प्रतिपादन किया गया है। इसका आधार बादरायण का '*अभास एव च*' और '*उपमा सूर्य कादिबच्चे*' आदि सूत्र है। इस सिद्धान्त के अनुसार ससार ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है। जिस प्रकार प्रतिबिम्ब केवल दृष्टि ग्राह्य होता है, सत्य नही होता उसी प्रकार यह संसार-सी सत्य नही है जायसी ने इस प्रतिबिम्बवाद का बड़े भावात्मक और रहस्यात्मक ढंग से प्रतिपादन किया है —

"देखि एक कौतुक हौं रहा।
रहा अंतर पेट पै नहि अहा॥
सरवर देखि एक मैं सोई।
रहा पानि पै पानि न होई॥
सरग आई धरती मह छावा।
रहा धरति पै धरति न आवा॥"

माया—जायसी ने माया की चर्चा तो की है, किन्तु उनमे माया के भावात्मक वर्णन नही मिलते है। अत. उनका उल्लेख दार्शनिक विचारो के प्रसंग में किसी समय किया जायगा। इस प्रकार हम देखते है कि जायसी में हमें आध्यात्मिक रहस्यवाद की सुन्दर भावपूर्ण झाँकी मिलती है।

तुलना—यहाँ पर अब हम जायसी के आध्यात्मिक रहस्यवाद पर थोड़ा तुलनात्मक विचार कर लेना चाहते है। कबीर मे भी हमे दार्शनिक रहस्यवाद की झाँकी मिलती है। किन्तु दोनो मे बड़ा अन्तर है। कबीर के दार्शनिक रहस्यवाद की अभिव्यक्ति प्राय· मुक्तक रूप मे हुई है। जायसी में कथात्मक रूप तथा मुक्तक रूप दोनों में ही हुई है। किन्तु प्रधानता कथात्मक दार्शनिक रहस्यवाद की है। उन्होने सम्पूर्ण कथा

लिए प्रकृति सदा से ही सजीव और सार्थक रही है। रहस्यवाद का मूलभूत सिद्धान्त भावात्मक अद्वैतवाद है। इस अद्वैतवाद की प्रतिष्ठा के लिए प्रकृति में परमात्मा की झाँकी देखना स्वाभाविक ही नही अनिवार्य है। यही कारण है कि पाश्चात्य भारतीय और सूफी सभी रहस्यवादी प्रकृति के पर्दे के पीछे परमात्मा के दर्शन करते रहे है। उपनिषदों में इस बात का प्रतिपादन बड़े ही भावपूर्ण और रहस्यात्मक ढंग से किया गया है। दो-एक उदाहरण दे देना अनुपयुक्त न होगा। ब्रह्मणोपनिषद् मे एक स्थल पर प्रकृति के समस्त पदार्थो को उसी विराट् ब्रह्म का अग रूप कहा गया है —

'तस्यैव वाचः पृथिवी शरीरम्
ज्योतिरूपमयमग्निस्तद्यावत्येव
वाक्तावती पृथिवी तावानयमग्निः
अथैतस्य मनसो द्यौः शरीर ज्योतीरूपम
सावादित्यस्तद्यावदेव मनस्तावती
द्यौस्तावान सावादित्यसौ मिथुन
समैतां ततः प्रणोऽजायत स इन्द्रः
स एषोऽसपत्नो द्वितीयोवै सपत्नो
नास्य सपत्नो भवति य एवं वेद।

ब्रह्मणोपनिषद ३।१२

इसी प्रकार ब्राह्मणों में अनेक स्थलो पर प्रकृति को विराट् ब्रह्म का रूप ध्वनित किया गया है। पुरुष-सूक्त तो स्पष्ट ही समस्त प्रकृति का विराट् ब्रह्म रूप में वर्णन करता है।

सूफ़ियों में प्रकृतिमूलक रहस्य-भावना—भारतीय रहस्यवादियों ने ही नही सूफी रहस्यवादी भी प्रकृति में परमात्मा के दर्शन करते थ। जलाउद्दीन रूमी ने अपनी एक कविता मे जिसका निकलसन-कृत अगरेजा

अनुवाद इस प्रकार है, इस तथ्य का प्रतिपादन सुन्दर और भावात्मक ढंग से किया है —

"The world is frozen; its name is jamad, jamad means 'frozen.' O Master ! wait till the rising of the sun of Resurrection that, thou mayest see the movements of the world's body. Since God hath made man from dust, it behoves thee to recognize the real nature of every particle of the universe, that while from this aspect they are dead from that aspect. They are living silent here but speaking yonder. When he sends them down to our world, the rod of moses becomes a dragen in regard to us.

The mountains sing with David, iron becoms as wax in this hand; the wind becomes a carrier for soloman the sea understands what God said to Moses concerning it.

The moon obeys the sign given by Mohammed, the fire becomes a garden of roses for Abraham.

They all cry, 'We are hearing and seeing and responsive, though to you, the uninitiated we are mute'."

इस लम्बे-चौड़े अवतरण में रूमी ने कई बातें ध्वनित की है। पहले तो वह उन लोगों का खण्डन करता है, जो प्रकृति को जड़ कहते है। उसका

कहना है कि उस परमात्मा के प्रभाव से यह प्रकृति जिसे तुम जड़ समझते हो सजीव दिखाई पड़ने लगती है। प्रकृति की चेतना का प्रतिपादन करके वह भगवान की महत्ता और सर्वशक्तिमत्ता का सकेत करता है। भगवान् की शक्ति से डेविड के साथ पहाड़ भी गाने लगते है, लोहा भी मोम के सदृश कोमल और द्रवणशील बन जाता है। चन्द्रमा मुहम्मद के द्वारा दिये गए लक्षणो का अनुगमन करता है और अग्नि अब्राहम के लिए गुलाब का फूल बन जाती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रकृति भी उस परमात्मा की शक्ति और रहस्यों की अभिव्यक्ति का माध्यम है। रहस्यवादी कवियो ने इस माध्यम का बहुत सदुपयोग किया है। अंगरेजी रहस्यवादियों ने तो अधिकतर प्रकृति के माध्यम से ही रहस्य-भावना की अभिव्यक्ति की है।

जायसी का प्रकृतिमूलक रहस्यवाद

प्रकार—जायसी के रहस्यवाद की अभिव्यक्ति प्रकृति के माध्यम से भी हुई है। यहाँ पर हम अब संक्षेप में उनकी प्रकृतिपरक रहस्यमयी भावना का निरूपण कर लेना चाहते है। जायसी में हमें रहस्य-भावना की अभिव्यक्ति में प्रकृति का प्रयोग निम्नलिखित रूपो में मिलता है—

(१) प्रकृति के सहारे परोक्ष तथ्यों का संकेत करना।
(२) प्रकृति को उस परोक्ष सत्ता की साधना में संलग्न दिखाना।
(३) गूढ़ आध्यात्मिक सिद्धान्तों की व्यञ्जना के हेतु।
(४) प्रकृति के रहस्यपूर्ण वर्णनों के रूप में।

प्रकृति के सहारे परोक्ष तथ्यों का संकेत :— प्रकृति हमारे लिए सदा से ही रहस्यमय रही है। जड़ लोग तो उसे जड़ समझते है। किन्तु भावुकों की दृष्टि मे वह सजीव और चेतन सत्ता है। भावुको की दृष्टि मे भी भेद रहा है। सभी भावुकों के लिए प्रकृति एक-सी नही दिखाई पड़ती। किसी के लिए वह रहस्यों का विशाल

और असीम आगार है। कोई उसकी रहस्यमयता और अनिर्वचनीयता पर निछावर रहता है और किसी के लिए वह अध्यात्म की विशाल और गम्भीर पुस्तिका है। वास्तव में अपनी अपनी भावना के अनुरूप ही भावुक लोग उसके रूप के दर्शन करते रहे हैं। कुछ ऐसे भी भावुक रहे हैं जिनके लि वह सब-कुछ थी। जायसी भी एक ऐसे ही कवि थे। प्रकृति के प्रति उनका अच्छा लगाव था। वे उस पर अपनी भावना का आरोप विविध प्रकार से किया करते थे। किन्तु उनकी भावना का प्रिय कार्य था प्रकृति से आध्यात्मिक संकेत ग्रहण करना। देखिए निम्न-लिखित पंक्तियों में सिंहलद्वीप के वृक्षों की छाया का वर्णन करते हुए उस छाया का आध्यात्मिक सकेत कर देते हैं—

"घन अमराउ लाग चहुँ पासा।
उठा भूमि हुत लागि अकासा ॥
तरिवर सबै मलयगिरि लाई।
भई जग छाँह रैनि होई आई ॥
मलय समीर सुहावन छाँहा।
जेठ जाड़ लागै तेहि माँह ॥
ओही छांह रैनि होइ आवै।
हरियर सबै अकास दिखावै ॥
पथिक जो पहुँचै सहि के घामा।
दुख बिसरै सुख होई बिसराम ॥
जेइ वह पाई छाह अनूपा।
फिरि नहि अइ सहै यह धूपा ॥"

जायसी ने प्रकृति के माध्यम से यौगिक वर्णन भी प्रतुत किये हैं। इनका विस्तृत में विवेचन जायसी हठयौगिक रहस्यवाद के अन्तर्गत किया जायगा। यहाँ पर केवल इतना ही दिखाना चाहते हैं कि जायसी की प्रकृति हठ-यौगिक रहस्यों की ओर भी संकेत करती है। सिंहल-द्वीप का वर्णन करते

हुए वे उसके प्रकृतिगत सौन्दर्य का वर्णन करते है। वह वर्णन प्रकृति-वर्णन न रहकर एक प्रकार से अत्यन्त रहस्यपूर्ण हठयौगिक वर्णन हो गया है—

"गढ़ पर नीर खीर दुई नदी।
पनिहारी जैसे दुरपदी॥
और कुण्ड एक मोती चूरू।
पानी अमृत कीच कपूरू॥
ओहिक पानि राजा पै पिया।
विरिध होय नहि जौलहि जीया॥
कञ्चन विरिछ एक तेहि पासा।
जस कल्पतरु इन्द्रक विलासा॥
मूल पतार सरग ओहि साखा।
अमर बेलि को पाव को चाखा॥
चाद पात और फूल तराई।
होइ उजियार नगर जह ताई॥
वह फल पावै तप करि कोई।
विरिध खाई तौ जोवन होई॥
राजा भए भिखारी सुनि वह अमृत भोग।
जेइ पावा सो अमर भा ना किछु व्याधि न रोग॥"

प्रकृति का परोक्ष सत्ता की साधना में संलग्न रूप का चित्रण

जायसी मे प्रकृति का चित्रण साधक रूप में किया गया है। जिस प्रकार मानव किसी परोक्ष सत्ता की साधना मे लगा रहता है उसी प्रकार समस्त प्रकृति भी उसीकी साधना मे निरत रहती है।

जायसी ने प्रकृति का अधिकाश चित्रण इसी रूप में किया है।

उनकी भावुक दृष्टि सारी सृष्टि उसी परोक्ष सत्ता तक पहुँचने के लिए प्रयत्नशील है—

"धाइ जो बाजा कै मन साधा।
मारा चक्र भएऊ दुइ आधा॥
चाँद सुरज औ नखत तराई।
तेहि डर अन्तरिख फिरहि सबाई॥
पौन जाइ तह पहुँचे चाहा।
मारा तैस लोट भुईं रहा॥
अगिनि उठी उठि जरी नियाना।
धुवा उठा उठि बीच विलाना॥
पानि उठा उठि जाय न छूवा।
बहुरा रोइ आइ आइ भुई चूआ॥"

इसी प्रकार जायसी ने मानसरोवर को भी उसी प्रियतम की साधना में संलग्न चित्रित किया है। ऐसे स्थलो पर वे भारतीय भक्ति-मार्ग से प्रभावित प्रतीत होते है। पद्मावती तो विराट् भगवान् का रूप है, सरोवर भक्त रूप। भक्त भगवान् के अद्वितीय रूप को देखकर मुग्ध हो रहा है। वह उसके चरणों तक पहुँचना चाहता है। हेतूत्प्रेक्षा के प्रयोग से ऐसे प्रकृति चित्रण बड़े ही मनोरम हो गए है—

"सरवर रूप बिंमोहा,
हिए हिलोरहि लेई।
पाव छुवै मकु पावौ,
एहि मिंसि लहरहि देहिं॥"

इसी भाव का विस्तार हमें इसी खण्ड की अन्तिम पंक्तियों में मिलता है। यहाँ पर उन्होने स्पष्ट ही भक्त और भगवान् के साक्षात्कार

की परिस्थिति का चित्रण किया है। इन पक्तियो मे सेव्य-सेवक-भाव की बडी अच्छी अभिव्यक्ति मिलती है। पद्मावती रूपी विराट् ब्रह्म को देखकर मानसरोवर रूपी साधक आनन्द से विभोर हो जाता है। उसके युग-युग के कालुष्य नष्ट हो जाते है। ऐसे स्थलो पर प्रकृति प्रतीक के रूप म भी ग्रहण की गई है। एक उदाहरण इस प्रकार है—

"कहा मानसर चाह सो पाई।
पारस रूप यहाँ लगि आई॥
भा निरमल तिन्ह पाँयन परसे।
पावा रूप रूप के दरसे॥
मलय समीर बास तन आई।
भा सीतल गै तपिन बुझाई॥"

गूढ़ आध्यात्मिक सिद्धान्तों की व्यञ्जना का माध्यम रूप-प्रकृति

रहस्यवादी कवि लोग गूढ़ आध्यात्मिक सिद्धान्तो की व्यञ्जना के हेतु भी प्रकृति का चित्रण करते है। कभी-कभी भावुक रहस्यवादी गूढ़ दार्शनिक सिद्धान्तो और तथ्यो का स्पष्टीकरण प्रकृतिमूलक अन्योक्तियों तथा रूपको के सहारे इतने सुन्दर ढग से करते है कि बुद्धि चमत्कृत हो जाती है। जायसी ने इस रूप मे भी प्रकृति का उपयोग किया है। एक साधारण-सा आध्यात्मिक तथ्य है कि सृष्टि के पूर्व मे केवल एक तत्त्व था। सब-कुछ अद्वैत रूप था। उस समय पृथ्वी और स्वर्ग-जैसा द्वैत-मूलक भेद न था किन्तु आगे चलकर यह भेद स्पष्ट हुआ। देखिए इसका वर्णन जायसी ने कितने भावात्मक और रहस्यात्मक ढग से किया है—

"धरती सरग मिले हुत दोऊ।
के निनार कै दीन्ह बिछोहू॥"

इसी प्रकार मायावाद की व्यञ्जना निम्नलिखित पंक्तियों में प्रकृति के माध्यम से ही की गई है—

"देखि एक कौतुक हौं रहा।
रहा अंतर पट पै नहिं अहा॥
सरवर देख एक मैं सोई।
रहा पानि औ पान न होई॥
सरग आई धरती महँ छावा।
रहा धरति पै धरति न आवा॥"

प्रकृति के रहस्यपूर्ण वर्णन:—प्रकृति के संश्लिष्ट चित्रण भी रहस्यवादियों की रचनाओं में मिला करते है। किन्तु साधारण कवियों और रहस्यवादी कवियों के प्रकृति-चित्रण में अन्तर होता है। साधारण कवि जो प्रकृति का संश्लिष्ट रूप-विधान सामने प्रस्तुत करता है वह यथार्थ और यथातथ्य होने के कारण बोधगम्य होता है; किन्तु रहस्यवादी के संश्लिष्ट प्रकृति-चित्रण इतने अलौकिक होते है कि उनमें एक विचित्र रहस्यात्मकता आ जाती है। जायसी में इस कोटि का भी रहस्यपूर्ण प्रकृति-चित्रण पाया जाता है। उनका सात-समुद्र-वर्णन खण्ड ऐसे ही रहस्यपूर्ण संश्लिष्ट चित्रणों से भरा पडा है। यहाँ पर हम उनके द्वारा लिखित किल किला समुद्र का वर्णन उद्धत करते हैं—

"पुनि किला किला समुद्र महँ आए।
गा धीरज देखत डर खाए॥
भा किल किल अस उठे हिलोरा।
जनु आकास उठै चहुँ ओरा॥
उठै लहरि परवत कै नाईं।
फिर आवै जो जन सौ ताईं॥
धरति लेइ सरग लहिं बाढ़ा।
सकल समुद जानहु भा ठाढ़ा॥

नीर होइ तर ऊपर सोइ ।
माथै रंभ समुद जस होई ॥"

इससे भी अधिक रहस्यात्मक सातवें समुद्र का वर्णन है, इस वर्णन में कवि ने समुद्र के आध्यात्मिक पक्ष का उद्घाटन और उसका संश्लिष्ट चित्रण भी किया है। यह चित्रण दिव्य और अलौकिक होने के कारण बहुत रहस्यात्मक हो गया है—

"सतएं समुद मानसर आए ।
मन जो कीन्ह साहस सिध पाए ॥
देखि मानसर रूप सुहावा ।
हिय हुलास पुरइनि होइ छावा ॥
गा अँधियार रैनि मसि छूटी ।
भा भिनसार किरन रवि फूटी ॥
'अस्ति' 'अस्ति' सब साथी बोले ।
अंधों अहे नैन विधि खोले ॥
कँवल विगस तहँ विहँसी देही ।
भौंर दसन होइ के रस लेही ॥
हँसहि हंस और करहि किरोरा ।
चुनहि रतन मुक्ताहल हीरा ॥
जो अस आव साध तप जोगू ।
पूजै आसमान तप भोगू ॥
और जो मनसा मानसर लीन्ह कवल रस आइ ।
घुन जो हियाव न कै सका भूर काठ तस खाइ ॥"

इनसे भी अधिक रहस्यात्मक वर्णन सिंहलगढ़ के हैं: वे अपने यौगिक संकेत के कारण बहुत अधिक रहस्यात्मक हो गए हैं। ऊपर दूसरे प्रसंग में उनका उल्लेख किया जा चुका है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि जायसी ने अपनी रहस्य-भावना की अभिव्यक्ति में प्रकृति से बडी सहायता ली है । उनका प्रकृति परक रहस्यवाद कम सुन्दर नही है ।

जायसी का प्रेममूलक रहस्यवाद

जायसी भारतीय सूफी थे । उनमें एक ओर तो सूफियो का मादन भाव और कोमलतम भावना के लौकिक तथा अलौकिक पक्ष के चित्र मिलते है और दूसरी ओर उनमे भारतीय अद्वैतवाद की अभिव्यक्ति भी पाई जाती है । पहले हम जायसी के मादन भाव जनित परिस्थितियो चित्रो आदि का उद्घाटन करेगे । बाद में उनके रहस्यवाद के अद्वैतवादी पक्ष पर विचार करेंगे ।

प्रेम तत्त्व—सूफियो में मादन भाव की अभिव्यक्ति सुरति और सुरा के रूप में पाई जाती है । पहले हम इनके सुरति पक्ष पर विचार करेंगे । सूफियो, ने जिनमे राबिया रूमी और इल्लाज आदि प्रमुख है, साधना में प्रेम-तत्त्व को बहुत अधि महत्त्व दिया है । इस पेम-तत्त्व का वर्णन करते हुए रूमी ने लिखा है —

Love, love alone can kill what seemed so dead
The frozen snake of passion, love alone,
By tearful prayer and fairy longing fed,
Reveals a knowledge schools have never known[1]

अर्थात् प्रेम ही वासना के भयकर सर्प का विनाशक होता है । वही हमें उस ज्ञान के द्वार पर ले जाता है जिसकी प्राप्त किसी पाठशाला

१. Rumi Poet and Mystic by Nicholson on page 29

से नही हो सकती। एक दूसरे स्थल पर वे फिर लिखते हैं

" 'T is the flame of love that fired me
'Tis the wine of love that inspired me,
Wouldst thou learn hath lovers bleed,
Hearken, hearken to the reed,"[१]

अर्थात् प्रेम की ज्वाला ने ही मुझको प्रज्वलित किया है। उसकी सुरा ने ही मुझको पागल बनाया है। तुम नरकुल के गाने को सुनकर सीख लो कि प्रेमी किस प्रकार अपना रक्त बहाता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि सूफियो मे प्रेम तत्त्व की बडी मान्यता है। इस प्रेम तत्त्व का स्वरूप दाम्पत्य ही है। यह बात राबिया की इस उक्ति से प्रकट है, "हे नाथ! तारे चमक रहे है। लोगो की आँखे मुद चुकी है। सम्राटो ने अपने द्वार बन्द कर लिए है। प्रत्येक प्रेमी अपनी प्रिया के साथ एकात सेवन कर रहा है और मै यहाँ आपके साथ अकेली हूँ।"[२]

इस दाम्पत्य-प्रेम के दो पक्ष होते है—लौकिक और अलौकिक। यह बात राबिया की निम्नलिखित उक्ति से प्रकट है—"हे नाथ! मैं आपको द्विधा प्रेम करती हूँ। एक तो मेरा यह स्वार्थ है कि मैं आपके अतिरिक्त अन्य की कामना नही करती। दूसरे मेरा यह परमार्थ है कि आप मेरे पर्दे को मेरी आँखो के सामने से हटा देते है ताकि मैं आपका साक्षात्कार करके आपकी सुरति में निमग्न हो सकूँ।"

सूफी रहस्य-भावना के मूल में राबिया, और रूमी का यही प्रेम-तत्त्व है। जायसी भी सूफी थे। इनकी रहस्य-भावना का मूलाधार भी यही प्रेम-तत्त्व है। इस प्रेम-तत्त्व की महिमा का वर्णन उन्होंने शतशः किया है। राबिया ने प्रेम के समान जायसी का प्रेम भी लौकिक और

---

१ Rumi Poet & Mystic page 31

२ राबिया दि मिस्टिक पृष्ठ-२७।

अलौकिक दोनो ही था। उसका लौकिक पक्ष पद्मावती के नख-शिख-वर्णन और सयोग-वर्णन से पूर्णतया स्पष्ट है। स्थान-स्थान पर पाए जाने वाली—"*अधिक काम दाधै सो रामा*"–जैसी पक्तियाँ इस बात का ही प्रमाण हैं। किन्तु उसका यह लौकिक प्रेम सदा ही लौकिक नही रहता। वह साधना की अतिरेकता में अलौकिक हो जाता है। इसीलिए उन्होंने लिखा है—

> "*मानुष प्रेम भयो बैकूण्ठी।*
> *नाहित कहा छार भर मूठी॥*"

इस बैकुण्ठी प्रेम के सम्बन्ध मे ही उन्होने लिखा है—

> "*लेसा हिये प्रेम भर दीया।*
> *उठी जोति भा निरमल हीया॥*"

यह आध्यात्मिक प्रेम त्याग से ही सुशोभित होता है। तभी तो जायसी ने लिखा है—

> "*कठिन प्रेम सिर देइ तो छाजा।*"

किन्तु इस प्रेम की कठिन साधन करने वाला दोनो लोकों से मुक्त हो जाता है—

> "*भलेहि प्रेम है कठिन दुहेला।*
> *दुइ जग तरा प्रेम जेहि खेला॥*"

वे इस आध्यात्मिक प्रेम के बिना वे जीवन को निरर्थक मानते थे उनका कहना था कि—

> "*जो नहिं सीस प्रेम पथ लावा।*
> *सो पृथवी मैं काहे को आवा॥*"

इस प्रेम-वेदना की अनुभूति सबको नही होती। यह गूंगे के गुड़ के समान है। इसका रहस्य वही जानता है जिसने इसकी अनुभूति कर ली है।

"प्रेम घाव दुख जान न कोई।
जेहि लागैं जानै पै सोई॥"

इसकी स्थिति मृत्यु से भी भयकर होती है —

"कठिन मरन ते प्रेम-व्यवस्था।
न जिउ जियै न दसम अवस्था॥"

यह आध्यात्मिक प्रेम ज्ञान से कही ऊँची वस्तु है—

"ज्ञान द्रष्टि सों जाइ पहूँचा।
प्रेम अदिस्ट गगन तैं ऊँचा॥"

इस आध्यात्मिक प्रेम को प्राप्त करके साधक दिन-दिन 'दूबर' होता जाता है—

"जेहि तन प्रेम कहाँ तेहि माँसू।
कया नहि रकत नयन नहिं आँसू॥"

इस प्रकार के आध्यात्मिक प्रेम से जो प्राणी दग्ध होता है, वही धन्य है —

"प्रेम जो दाधा धनि वोइ जीऊ।"

ऐसे व्यक्ति के लिए अग्नि भी चदन के समान शीतल हो जाती है —

"जेहि जिय प्रेम चंदनि तेहि आगी।"

यह प्रेम साधक के लिए सच्ची सुरा भी है —

"प्रेम सुरा जेहि के हिय माँहा।
कित बैठे महुआ के छाँहा॥"

इस प्रेम-सुरा पीने के बाद मृत्यु और जीवन का भय नही रहता—

"सुन धनि प्रेम सुरा के पिए।
जियन मरन डर रहे न हिए॥"

यह प्रेम आध्यात्मिक विरह से भी अनुगमित रहता है —

"प्रीति वेल संग है विरह अपारा।"

इस विरह में भी बडा रस होता है —

"प्रेमहि माँह विरह रस रसा।
मैनके घर मधु अमृत बसा॥"

इस प्रकार जायसी ने अपने पद्मावत में लौकिक प्रेम-तत्त्व को अलौकिकता का रूप प्रदान करके उसकी रहस्यात्मकता की सर्वत्र व्यजना की है।

सौन्दर्य—इस प्रेम-तत्त्व के उदय का मूल कारण सूफियों ने यह सौन्दर्यत-त्त्व ही माना है। रूमी ने लिखा है —

Love will not let his faithful servants tire,
Immortal beauty draws them on and on,
From glory into glory, drawing nigher,
At each remove and loving to be drawn,[1]

रूमी के अतिरिक्त सूफी इब्मे निवा और महाकवि जायसी का सौदर्यवाद भी कम प्रसिद्ध नही है जिस सौन्दर्य की प्रतिष्ठा इन सूफी सतो ने की है वह आध्यात्मिक है। किन्तु उसका वर्णन उन्होन लौकिक ढंग पर ही किया है। रहस्यवाद के अन्तर्गत इनमे सौन्दर्य का अलौकिक एवं आध्यात्मिक पक्ष ही आयगा। सौन्दर्य का लौकिक पक्ष उन्हें शृङ्गारिक कवि कहने के लिए प्रेरित करता है किन्तु उन सूफियो को शृङ्गारिक कहना उनके प्रति अन्याय करना होगा। उन्होंने लौकिक शृङ्गार का आश्रय आध्यात्मिक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के हेतु ही किया है। उनका प्रसिद्ध सिद्धांत *"परदे-बुतों में नूरे खुदा देखते हैं"*। अतएव उनके लिए आध्यात्मिक सौन्दर्य की व्यञ्जना के हेतु लौकिक सौन्दर्य का वर्णन करना एक प्रकार से आवश्यक था। उसे हम उनका साध्य नही कर

१. Rumi Poet and Mystic ,P. 30

सकते—वह केवल आध्यत्मिक सौन्दर्य के उद्घाटन का साधन-मात्र है। अतएव हम उन्हे उनकी शृङ्गारिकता के लिए दोषी नही ठहरा सकते।

जायसी ने रहस्यमय आध्यात्मिक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति 'पद्मावत' मे अनेक स्थलो पर की है। इस अभिव्यक्ति के लिए उन्होने कही पर तो समासोक्ति का आश्रय लिया है, कही विराट् आरोपण का कही-कही उत्प्रेक्षाओ के सहारे भी उसकी मार्मिक व्यञ्जना की गई है।

यद्यपि कि जायसी ने अपने काव्य को अन्योक्ति ध्वनित करने की चेष्टा की है, किन्तु उनमे अन्योक्ति से कही अधिक सुन्दर समासोक्तियों की छटा दिखलाई पडती है। अपने रहस्यात्मक दिव्य सौन्दर्य की अभिव्यक्ति इन्होने समासोक्तियो के सहारे बडे सुन्दर ढग मे की है। निम्नलिखित पक्तियो मे देखिए उस दिव्य सौन्दर्य की ओर कैसी ध्वन्यात्मक शैली मे सकेत किया गया है —

"देखि मानसर रूप सुहावा।
हिय हुलास पुरइनि होइ छावा॥
गा अँधियार रैनि मसि छूटी।
भा भिनसार किरनि रवि फूटी॥"

समासोक्तियो के अतिरिक्त जायसी ने व्यष्टि का समष्टि मे आरोप करके भी सौन्दर्य की आध्यात्मिकता व्यजित की है। नायिका अपने बालो को खोलकर जब झाड़ती है तब सारे विश्व में अधकार छा जाता है —

"बेनी छोरि झारि जो बारा।
सरग पतार होइ अंधियारा॥"

इसी तरह से एक दूसरे स्थल पर उन्होने पद्मावती को विराट् ब्रह्म के रूप में कल्पित करके प्रतिबिम्बबाद के सहारे उसके सौन्दर्य की विश्वव्यापकता ध्वनित की है। वे पक्तियाँ इस प्रकार है —

"बिकसा कुमुद देखि ससि रेखा।
भई तहं ओप जहाँ जोहि देखा॥

पावा रूप रूप जस चाहा।
ससि मुख जनु दर्पन होइ रहा ॥
नैन जो देखा कँवल भा निर्मल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हंस भा दसन जोति नग हीर ॥"

इन पंक्तियो में उन्होने प्रतिबिम्बवाद के सहारे जामी और इब्नेसिना के सौन्दर्यवाद का बडे सुन्दर ढग से वर्णन किया है। विराट् ब्रह्म रूपिणी पद्मिनी पारस रूपिणी है। उसके स्पर्श का लाभ करके विश्व के समस्त पदार्थ वाछित सौन्दर्य को प्राप्त करते है। विश्व के समस्त सुन्दर पदार्थ उसी विराट् सौन्दर्य के अग-प्रत्यग का प्रतिबिम्ब है। इस आध्यात्मिक सौन्दर्य मे मानव को भाव-विभोर करके समाधि की स्थिति में ले जाने की एक विचित्र क्षमता है। इस दिव्य सौन्दर्य का वर्णन सुनकर ही राजा रत्नसेन मूछित हो जाता है —

"सुनतहि राजा गा मुरझाई।
जानौं लहरि सूरज कै आई ॥"

इस आध्यात्मिक सौन्दर्य का प्रभाव प्रकृति पर बड़ा ही मादक और आह्लादमय दिखाई पड़ता है —

"देखि मानसर रुप सुहावा।
हिय हुलास पुरइन होई छावा ॥"

इसमे अज्ञान के अधकार को नष्ट करके ज्ञान की ज्योति को ज्योतित करने की क्षमता पाई जाती है। आस्तिकता का वह प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

"गा अँधियार रैन मसि छूटी।
भा भिनसार किरन रवि फूटी ॥
'अस्ति' अस्ति' सब साथी बोले।"

'पद्मावत' मे आए हुए उपयुक्त ढग के दिव्य एव आध्यात्मिक सौदर्य-सम्बन्धी समस्त अवतरण रहस्यवाद के ही अन्तर्गत लिये जायँगे। यहाँ

पर विस्तार भय के कारण सौन्दर्य-सम्बन्धी समस्त अवतरणो का उल्लेख नही किया जा सका है ।।

आस्तिकता:—हम ऊपर ध्वनित कर चुके है कि दिव्य सौन्दर्य ही साधक मे पूर्ण आस्तिकता का संचार करता है । जायसी नें उपर्युक्त अवतरण में यही बात कही है । रहस्यवादी साधक का आस्तिक होना नितान्त आवश्यक होता है । जायसी भी कट्टर आस्तिक थे । इसका पुष्ट प्रमाण यही है कि उन्होने 'पद्मावत' के प्रारम्भ मे ही एक परमेश्वर की वन्दना की है—

"बन्दौ आदि एक करतारू।
जेहि जिय दीन कीन्ह संसारू ॥"

उपास्य—यहाँ पर अब हम थोडा-सा उनके उपास्य स्वरूप के सम्बन्ध में भी विचार कर लेना चाहते हैं । जायसी सूफी थे । सूफी लोग एकेश्वरी अद्वैतवाद मे विश्वास करते है । सूफियो का उपास्य भक्तो के उपास्य से भिन्न होता है । भक्त लोग ब्रह्म के आधिदैविक स्वरूप मे आस्था रखने है । ज्ञानी उसके आध्यात्मिक पक्ष का निरूपण करते हैं । सूफियो का उपास्य इन दोनो से भिन्न होता है वह आधिदैविक भी होता है—इस अर्थ मे कि उसकी उपासना की जाती है, वह आध्यात्मिक भी होता है । इस दृष्टि से वह निर्द्वन्द्व सत्य है जो सर्वथा अभिव्यक्ति से परे कहा जा सकता है । निकलसन ने रूमी की मसनवी के अनुवाद की भूमिका मे सूफियो के उपास्य के स्वरूप को उपर्युक्त ढंग से ही स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है । वह लिखते है—

God is Faith imminent in the sense thal he appears under the aspect of limitation in the all phenomenal forms and transcedental in the sense that he is the absolute reality above and beyond

appearance.[1]

जायसी का उपास्य प्रेम और सौन्दर्य स्वरूपी विराट् ब्रह्म प्रतीत होता है जिसकी अभिव्यक्ति पद्मावती के प्रतीक से की हुई जान पड़ती है। जहाँ कही भी कवि को पद्मावती के वर्णन का अवसर मिला है वहाँ पर उसने प्रेम और सौन्दर्य तत्त्व की ही मार्मिक व्यजना की है। इस प्रेम और सौन्दर्य को उन्होने विश्व-व्यापी चित्रित करके अपने उपास्य की विराट् स्थिति का सकेत किया है। उनके इस विराट् उपास्य की स्थिति विश्व के कोने-कोने में है। पद्मावती के निम्नलिखित वर्णन मे सौन्दर्य स्वरूपी विराट् तत्त्व की अभिव्यक्ति इस प्रकार की गई है—

"सरवर तीर पद्मनी आई। खोपा छोर केस मुकलाई ॥
ससि मुख अंग मलय गिरि वासा। नागिन झाँपि लीन्ह चहुँपासा ॥
उनई घटा परी जग छाँहा। ससि के सरन लीन्ह जनु राहा ॥
छपि गै दिनहिं भानु कै दसा। लेई निसि नखत चाँद परगसा ॥
भूलि चकोर दीठि मुख लावा। मेघ घटा महँ चंद देखावा ॥
दसन दामिनी, कोकिल भाखी। भौंहै धनुख गगन लेइ राखी ॥
नैन-खञ्जन दुइ केलि करेहीं। कुच नारग मधुकर रस लेहीं।
सरवर रूप विमोहा, हिय हिलोरहि लेइ।
पाव छुवै मकु पावौं एहि मिस लहरहि देइ ॥"

सौन्दर्य का यही विराट् स्वरूप, जिसकी व्यजना पद्मावती के प्रतीक से की गई है, जायसी का आराध्यस्वरूप था इस दृष्टि से उन्हें रत्नसेन कीअनुयायी कह सकते हैं। जायसी का यह विराट् सौन्दर्य वर्णन वेदो के विराट् ब्रह्म-वर्णन से जिसका अनुसरण कबीर ने भी किया है सर्वथा भिन्न है। वेदों का विराट् ब्रह्म—सहस्रबाहु, सहस्रपाद, सहस्रशीर्ष स्वरूपी है। किन्तु जायसी का विराट् उपास्य शुद्ध सौन्दर्यस्वरूपी है।

१. Nicholson's Rumi Poet Mystics Introduction page 23.

उसमे मूर्तिमत्ता की जो छाया दिखलाई पडती है। वह केवल प्रतीक-योजना के कारण है। उनके उपास्य स्वरूप के सम्बन्ध में एक बात और ध्यान में रखनी चाहिए। उन्होने ब्रह्मरूप की कल्पना नारी रूप मे की है। इसका कारण यह था कि लौकिक सौन्दर्य नारी-रूप मे ही सम्भवत. अपनी पराकाष्ठा पर पाया जाता है। इसीलिए उन्होनें अपने उपास्य रूप को स्पष्ट करने के लिए सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी पद्मिनी को ही प्रतीक रूप में चुना। इस प्रकार हम देखते है कि जायसी का रहस्यमय उपास्य प्रेम और सौन्दर्य की रहस्यमयता का सरस इतिहास है। उसकी छटा "सुनि-मण्डल" मे ही फैलकर नही रह जाती उसके प्रकाश से सारा ब्रह्मांड प्रकाशित है। विश्व की समस्त सुन्दर विभूतियाँ उसीमे सुन्दर है। अण्डर हिल ने रहस्यवादी उपास्य की चार प्रमुख विशेषताएँ बतलाई है। उसके मतानुसार — "The absolute of the mystic is lovable, attaindable, alive and personal" जायसी ने अपने उपास्य में यह सभी विशेषताएं प्रतिष्ठित की है। वह विश्व-व्यापी और अखण्ड सौन्दर्य रूप होने के कारण (Absolute) है। स्त्री प्रतीक द्वारा अभिव्यक्ति किये जाने के कारण (Lovable) है तथा प्रेम और सौन्दर्यमय होने के कारण सजीव भी है। उन्होने सारे विश्व मे उसका आरोप करके उसे एक अपनापन दे दिया है। जिसके कारण हम यह भी कह सकते है कि उनका उपास्य विश्व-व्यापी होते हुए भी व्यक्तित्व विशिष्ट है। सक्षेप मे जायसी के रहस्यवादी उपास्य का यही स्वरूप है।

जायसी, रोसेटी, ब्राउनिग और शैली:—उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जायसी प्रेम और सौन्दर्य विशिष्ट रहस्यवादी थे। अंग्रेजी में शैली, ब्राउनिग आदि इसी कोटि के रहस्यवादी है। अंग्रेजी कवि रोसेटी भी ऐसा ही रहस्यवादी है। उसके रहस्यवाद में प्रेम के वासनात्मक स्वरूप की भी यत्र-तत्र अभिव्यक्ति मिलती है। रोसेटी की यह

विशेषता जायसी में भी पाई जाती है। इसका संकेत हम पहले भी कर चुके है। जायसी की सौन्दर्य भावना शेली की सौन्दर्य भावना से मिलती जुलती है। शेली को आदर्श सौन्दर्य मे विश्वास था जायसी भी उसी आदर्श सौन्दर्य के उपासक थे। शेली के "हिम टु इण्टेलेक्चुअल बिऊटी" में इसी आदर्श- सौन्दर्य की अभिव्यक्ति की गई है। जायसी ने पद्मावती सौन्दर्य चित्रण में विशेषकर मानसरोवर के अतिम अवतरण में इसी आदर्शवादी सौन्दर्य की प्रतिष्ठा की है। जायसी शैली से एक बात में और मिलते-जुलते मालूम पडते है। शेली का विश्वास था—"the great secret of moral is leve." इस विश्वास की अभिव्यक्ति जायसी में भी पाई जाती है। उनके मतानुसार सौन्दर्य ही समस्त नैतिकता एवं आस्तिकता की आधार-भूमि है। यह बात उनकी निम्नलिखित पंक्तियों से प्रकट होती है—

"देखि मानसर रूप सुहावा। हिय हुलास पुरइन होइ छावा॥
गा अँधियार रैन मसि छूटी। भा भिनसार किरन रवि फूटी॥"

जायसी के सौन्दर्य-चित्रण में एक बात ब्राउनिंग की भी पाई जाती है। ब्राउनिंग विश्व के समस्त पदार्थो मे उसी ईश्वर के दर्शन करता था। उसने बार-बार लिखा है—

God in seen in the star, in the stone, in the flesh in the soul etc.

ब्राउनिग के समान जायसी भी विश्व के कण-कण में अपने प्रियतम की झाँकी देखते थे। दोनो में केवल अन्तर इतना ही है कि ब्राउनिंग की अनुभूति बहुत-कुछ कवि की अनुभूति है, और जायसी में साधना की प्रधानता दिखलाई पड़ती है। इसीलिए उनकी अनुभूति एक साधक की अनुभूति है। उन्होने सृष्टि के समस्त पदार्थों को साधना में संलग्न चित्रित किया है—

"घाय जो बाजा कै मन साधा।
मारा चक्र भयउ दुइ साधा॥"

जायसी का ब्राउनिग से एक बात और साम्य दिखलाई पड़ता है। जिस प्रकार ब्राउनिंग प्रेम को जीवन का मूल तत्व मानता था, उसी प्रकार जायसी भी प्रेम को जीवित रहने का एक मात्र साधन समझते थे। "ए डेथ इन द डिजर्ट" नामक कविता मे ब्राउनिंग ने लिखा है—

For life with all it yifelds gay alone. And hope and fear is just our chance of the prize of the learning love.[१]

ब्राउनिग के सम्मान ही जायसी ने भी लिखा है—

"तीनि लोक चौदह खण्ड सबै परै मोहि सूझि।
प्रेम छाड़ि नहि लोन किछु, जो देखा मन बूझि॥"

इस प्रकार हम देखते है कि जायसी अंग्रेजी के प्रेम-प्रधान रहस्य-वादियों से भी कुछ दृष्टियों में मिलते-जुलते है। हिन्दी के सूफी कवियों को छोड़कर जायसी के समान रहस्यवादी बहुत कम है।

रहस्यवाद के क्रियात्मक पक्ष:—अब हम जायसी के प्रेममूलक रहस्य-वाद के क्रियात्मक पक्ष पर विचार करेंगे।

प्रेममूलक रहस्यवाद वास्तव में कोई सिद्धान्त मात्र नही है। हमारी समझ में वह उस प्रियतम तक पहुँचने का भावना-मय मार्ग के साधकरूपी पथिक की अनुभूतियों का प्रकाशन है।—वाहन (vanghan) ने अपने "अवर्स विद दि मिस्टिक्स" के प्रथम खण्ड के ८८ वें पृष्ठ पर हमारे इसी मत का समर्थन सा किया है। उसने लिखा है—

There are different roads by which this and (apprehension of the inf¡nita) may be reached

१. 'मिस्टिसिज्म इन इङ्गलिश लिटरेचर', पृष्ठ ४१.।

The love of beauty which exallsrhe poet. etc.[1]

जब रहस्यवाद उस प्रियतम तक पहुँचने का प्रयत्न करने वाले साधक की मधुर साधनाओं का इतिहास है तो फिर हमें 'उस साधना क्रम को भी समझना पडेगा।

जागरण की स्थितिः—रहस्यवादी की साधना भावना या प्रेम के सहारे अग्रसर होती है। यह भावना पर प्रेम साधक में गुरु की कृपा से या पूर्वजन्म के पुण्यो के प्रताप से ही उत्पन्न होता है। यह ईश्वर प्रदत्त देन है जिसे पाकर मानव कृतकृत्य हो जाता है। हृदय मे इसकी जागृति होते ही आध्यात्मिक सौन्दर्य की अनुभूति बढ जाती है। साधक को सर्वत्र उसी सौन्दर्य की व्याप्ति दिखलाई पडती है। विश्व का कण-कण उसे उसी सौन्दर्य से सुन्दर प्रतीत होता है। इस सौन्दर्य की परिचयात्मक अनुभूति होते ही साधक पागल हो उठता है। इसका परिचय गुरु करता है। जायसी ने निम्नलिखित पंक्तियो मे इसी तथ्य की अभिव्यक्ति की हैः—

"सुनतै ॱ जा गा मुरझाई।
जानौ लहर सूरज कहिं आई॥"

गुरु से इस सौन्दर्य का परिचय पाकर साधक प्रेम की पीर से तड़प उठता है। इस पीर की अनुभूति भुक्तभोगी को ही होती है —

"पीरघाव दुख जान कोई।
जेहि लागै जानै पै सोई॥"

आंशिक अनुभूति की अवस्था—प्रेमानुभूति क्षण-भर के लिए साधक को एक विचित्र आंशिक अनुभूति की दशा मे ले जाती है। उस दशा का वर्णन जायसी ने निम्नलिखित पक्तियो मे लिखा है—

"परा सो प्रेम समुद्र अपारा।
लहरहि लहर होइ बिसभारा॥"

---

१. Hours With the Mystics. By R. A. Vaugan U.T.P.

"विरह-भौंर होइ भाँवर देई ।
खिन खिन जउ हिलोरा लेई ॥
खिनहि उसास बूडि जिउ जाई ।
खिनहिं उठै निसरै बौराई ॥
खिनहि पीत, खिन होइ मुख सेता ।
खिनहिं चेत, खिन होइ अचेता ॥
कठिन मरन ते प्रेम व्यवस्था ।
ना जिउ जिय, न दसवं अवस्था ॥"

दोनों अवस्थाएँ—साधक की आंशिक अनुभूति की स्थिति अधिक देर नही टिक पाती; क्योकि इस समय तक उसकी साधना अपूर्ण रहती है । उसका हृदय भी पूर्ण सिद्ध नही हो पाता है । शैतान और माया के विविध सगम उसे उस दैवी और आध्यात्मिक अनुभूति की रमणीय स्थिति से जगने के पश्चात् साधक बावला-सा दिखलाई देने लगता है । उस दैवी आनन्द के आगे उसे सासारिक वैभव फीके मालूम पडने लगते है, इसलिए वह वैराग्य और अदृष्ट हो जाता है और उसी अपनी दैविक अनुभूति की प्राप्ति के लिए तड़फने लगता है । रहस्यवाद की इस स्थिति का चित्रण, जिसे हम अण्डरहिल के शब्दो मे जागरण की अवस्था कहेगे, जायसी की निम्नलिखित पक्तियो मे बड़े सुन्दर ढग से किया गया है ।

इन पंक्तियो मे जागरण की स्थिति के साथ-साथ आंशिक-अनुभूति की स्थिति का भी मिश्रण मिलता है —

"जब भा चेत उठा बैरागा ।
बाउर जनौं सोइ उठि जागा ॥
आवत जग बालक जस रोआ ।
उठा रोइ हा ज्ञान सो खोआ ॥
हौं तौ अहा मरन पुर जहाँ ।
इहाँ मरनपुर आएउँ कहाँ ॥

केइ उपकार मरन कर कीन्हा।
समति हँकारि जीउ हरि लीन्हा॥
सोवत रहा जहाँ सुख - साखा।
कस न तहाँ सोवत बिधि राखा॥
अब जिउ उहाँ इहाँ तन सूना।
कब लगि रहै परान बिहूना॥
जौं जिउ घटहि काल के हाथा।
घट न नीक पै जीउ—निसाथा॥"

विरहावस्था—रहस्यमय की इस आंशिक अनुभूति से जगने के पश्चात् साधक मे तीव्र आध्यात्मिक विरह की जागृति होती है। सूफी-साधना में इस आध्यात्मिक विरह का बड़ा ही महत्त्व है। जायसी भी सूफी थे, इसलिए उन्होने भी विरह को बहुत अधिक महत्त्व दिया है। उनका सारा काव्य इसी आध्यात्मिक विरह से व्यथित दिखलाई पड़ता है। उन्होंने इस विरह का स्थान-स्थान पर महत्त्व भी प्रतिपादन किया है। वे लिखते है —

"धनि विरही औ धनि हिया जहाँ अस अगिन समाय।"

विरह की धार तलवार की धार से भी तेज होती है —

"जग महँ कठिन खड़ग कै धारा।
तेहिते अधिक विरह कै झारा॥"

यदि यह विरह इतना कठिन न होता तो साधना-मार्ग ही सरल हो जाता है। और उस प्रियतम को सभी लोग पा जाते —

"अगम पंथ जो ऐस न होई।
साध किये पावै सब कोई॥"

यह विरह व्यक्ति विशेष का साधारण विरह नही है। वह अखंड और महान् ज्वाला है, जिससे दृष्टि में समस्त पदार्थ जलते हुए दिखलाई पड़ते है —

"बिरह की आगि सूरि जर काँपा।
राति दिवस जरहि उहि तापा॥
औ सब नखत तराईं जरईं।
टूटे लूक धरति महँ परईं॥
जरैं सो धरती ठाहउँ ठाऊँ।"

विरह के वैयक्तिक पक्ष का भी कम धार्मिक वर्णन जायसी ने नहीं किया है। नागमती, पद्मावती और रत्नसेन के जो विरह-वर्णन है उनमे उनका वैयक्तिक रूप अधिक निखरा है। उनका विवेचन नागमती के विरह-वर्णन के अन्तर्गत किया जायगा। यहाँ पर विरह के समष्टिमूलक और आध्यात्मिक पक्ष का चित्रण करना ही हमारा उद्देश्य है। क्योकि रहस्यवाद के अंतर्गत विरह का यही आध्यात्मिक और समष्टिमूलक रूप आता है।

विरह के साधक के लिए परिष्करण भी प्रेरणा प्रदान करता है। सच तो यह है कि साधक रूपी कचन विराट् रूपी अग्नि मे बिना तपे हुए निखरता ही नही है। तभी तो उस्मान ने लिखा है—

"विरह अगिनि जरि कुन्दन होई।
निरमल तन पावै पै सोई॥"

जब विरह से साधक की आत्मा पवित्र होने लगती है तब वह हृदय शुद्धि-विधायक कुछ अन्य साधको की ओर भी उन्मुख हो उठता है। भिन्न-भिन्न रहस्यवादियों ने परिष्करण के साधन के रूप में बहुत अलग-अलग साधनाएँ निर्देशित की है। किसी ने कुरान की शरायतो पर बल दिया है, किसी ने तरीकत नाम की स्थिति से गुजरने का उपदेश किया है। कोई मारफत के लिए तडपता दिखलाई पडता है और कोई मारफत तक पहुँचने की चेष्टा में है।

इसी प्रकार किसी ने योग को महत्त्व दिया है किसी ने ज्ञान को आवश्यक ठहराया है। और कोई भक्ति-मार्ग पर चलता दिखलाई

पड़ता है। इनके अतिरिक्त और भी बहुत-से छोटे-छोटे साधन है जिनसे साधक अपनी आत्मा और हृदय को शुद्ध करके उस प्रियतम से मिलने के लिए प्रयत्नशील होता है। जहाँ तक जायसी का सम्बन्ध है, उन्होने आत्मशुद्धि के साधको में सहज योग और वैराग्य के साथ-साथ सूफियो के शरीयत, तरीकत, हकीकत और मारिफत सबको अपनाने की चेष्टा की है। इन सबसे अधिक उन्होने सत् को महत्त्व दिया है। उनका दृढ़ निश्चय था कि *"चार बसे सों चढ़ै सत सो उतरै पार।"* अर्थात् साधक सत की साधना करते हुए सूफियो के शरीयत, तरिकत, हकीकत और मारिफत नामक चार पड़ावो से गुजरता हुआ ही अपने प्रियतम तक पहुँच पाता है। जायसी ने साधना के रूप में आत्मानुभूतिमूलक सहयोग के प्रति भी श्रद्धा प्रकट की है। हठयोग के प्रति उन्हे बिलकुल श्रद्धा न थी। उन्होने साफ लिखा है —

"पाइय नांहि जूझ हठ कीन्हें।
जेहि पावा तेहि आपुहि चीन्हे॥"

जायसी में साधना के रूप मे प्रपत्ति भावना को भी आश्रय दिया गया है। इस प्रपित्त भावना की अभिव्यक्ति मानसरोदक-खड में की गई है। सरोवर पद्मावती के दिव्य रूप से मुग्ध हो उसके चरणों को छूना चाहता है —

"सरवर रूप विमोहा हिये हिलोरै लेइ।
पाँव छुवें मकु पावों यहि विष लहरैं देइ॥"

इसी खण्ड मे दूसरे स्थल पर वे लिखते है —

"भा निरमल तिन पाइन परसें"

इन पक्तियों से अच्छी तरह से स्पष्ट है कि जायसी की प्रपत्ति या शरणागत में पूर्ण आस्था थी।

विघ्न की अवस्था—आत्म-परिष्करण और साधना की स्थिति के पश्चात् विघ्नों की अवस्था आती है। अण्डरहिल ने रहस्यवादियों की

इस स्थिति को 'डार्क नाइट' कहा है। सूफियो का विश्वास है कि उस प्रियतम तक पहुँचने मे शैतान बाधक होता है। भारतीय साधक शैतान के स्थान पर माया की कल्पना करते है। उनका दृढ विश्वास है कि माया ही आत्मा और परमात्मा के रूप मे बाधक है। माया का प्रतीक अज्ञान है। जायसी ने रहस्य-साधना की बाधा रूप मे माया को ध्वनित किया है। माया के साथ उन्होने उसके पचविकार तथा विषय-विकारो को समेटने की भी चेष्टा की है। ज्ञानी-से-ज्ञानी मनुष्य भी इन विकारो तथा माया के इन्द्र-जाल मे पडकर बन्धन मे बँध जाता है। यह बात जायसी ने निम्नलिखित पक्तियो मे तोते या पक्षी के रूपक से प्रकट की है—

"बधिगा सुआ करत सुख केली।
चूर पाखि मेलिस घर डेली॥
तहवाँ बहुत पखि खरबरही।
आपु-आपु महं रोदन करहीं॥
बिखदाना कित होत अंगूरा।
जेहि भा मरन डहन धरि चूरा॥
जौं न होत चारा कै आसा।
कित चिरहार ढुकत लेई लासा॥
यह विष चारै सब बुद्धि ठगी।
औ भा कात हाथ लेइ लगी॥
एहि झूठी माया मन भूला।
त्यों पंखी तैसे तन फूला॥"

जायसी ने साधना के बाधक रूप मे काम-क्रोधादिक पच विकारों को पॉच कोतवालो के रूपक से कई जगह सकेतित किया है—

"फिरहि पॉच कुतवाल सुमौरी।
कॉपै पावै चपत वा पौरी॥"

जायसी ने अन्य सतो के समान विषय-वासना की प्रतीक नारी की भी निन्दा की है। वे लिखते है —

"जो तिरिया के काज न जाना।
परै धोक पाछे पछताना॥"

जब साधक काम-कोध-प्रधान माया से विमुख हो जाता है तभी उसे उस प्रियतम की अनुभूति होती है। इस बात को जायसी ने निम्न-लिखित पक्तियो मे स्पष्ट कर दिया है —

"सुनि सो बात राजा मन जागा।
पलक न मार, प्रेम चित लागा॥
नैनन्ह ढरहिं मोति औ मूँगा।
हिय कै ज्योति दीह वह सूझा।।
यह जो दीप ॲधियारा बूझा।
उलटि दीठि माया सौ रूठी॥
पलटि न फिरी जानि कै झूठी॥"

मिलन के पूर्व की स्थिति— जब साधक माया पर विजय प्राप्त कर लेता है तब उसे केवल उस प्रियतम के लोक तक पहुँचने की ही कामना शेष रह जाती है। वह अध्यात्म-जगत् मे प्रकट हो जाता है। वह कभी तो उस प्रियतम के लोक की मधुर कल्पना करता है और कभी मिलन के पूर्व की भावनाओ का चित्रण करता है और कभी मिलने के लिए तडप उठता है। जायसी के उस प्रियतम लोक की कल्पना देखिए कितनी मधुर है —

"जल न पौन न पानि है जहाँ न दिवस न रात।
तेहि बन सुबटा चल बसा कौन मिलावै आन॥"

मिलन के पूर्व की भावनाओ का चित्रण भी जयसी ने बड़े मधुर ंग से किया है। वे लिखते हैं —

"अनचिन्ह पिउ काँपै मन माँहा ।
का मैं कहब गहब जौं बाँहा ॥
बारि बैस गइ प्रीति न जानी ।
तरुनि भई मैमत भुलानी ॥
जोबन गरब न नै किछु चेता ।
नेह न जानौ साँव कि सेता ॥
अब सो कंत जो पूछिहि बाता ।
कस मुख होइहि पीत की राता ॥"

इसी प्रकार उन्होने मिलन के पूर्व की परिस्थितियो के बडे रमणीय चित्र प्रस्तुत किये है ।

तादात्म्य की अवस्था.—रहस्यवाद की अन्तिम अवस्था साक्षात्कार या तादात्म्य की मानी जा सकती है। जायसी ने इस अवस्था के बहुत से मनोरम चित्र चित्रित किये है। इन चित्रो की योजना अधिकतर रूपकों, अन्योक्तियो और प्रतीको के सहारे की गई है। साक्षात्कार की स्थिति के दो चित्र बहुत ही प्रसिद्ध और सुन्दर है। पहला चित्र मानसरोदक-खड मे हैं। उसमे पद्मावती की कल्पना ब्रह्म के रूप मे की गई है। सरोवर साधक के रूप मे चित्रित किया गया है। वे पक्तियाँ इस प्रकार हैं —

"कहा मानसर चाह सो पाई ।
पारस-रूप इहाँ लगि आई ॥
मलय-समीर बास तन आई ।
भा सीतल, गै तपनि बुझाई ॥
न जानौं कौन पौन लेइ आवा ।
पुन्य-दसा भै पाप गँवावा ॥
ततखन हार बेगि उतिराना ।
पावा सखिन्ह चन्द बिहसाना ॥

बिगसा कुमुद देखि ससि-रेखा।
मैं तहँ आप जहाँ जोइ देखा॥
पारा रूप रूप जस चहा।
ससि-मुख जनु दरपन होइ रहा॥
नयन जो देखा कवल भा, निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हंस भा, दसन जोति नगहीर॥"

यहाँ पर साधक और साध्य के साक्षात्कार की स्थिति का बड़ा ही रहस्यात्मक चित्र प्रस्तुत किया गया है। समासोक्ति, रूपकातिशयोक्ति आदि विविध अलंकारो के प्रयोग ने तथा साध्यवसाना गौड़ी लक्षणा-जनित लाक्षणिक अर्थ ने चित्रण को और भी अधिक रमणीय और साहित्यिक बना दिया है।

उपनिषदो में ब्रह्म साक्षात्कार की स्थिति का बड़े विस्तार से वर्णन किया गया है। एक उपनिषद् में लिखा है—

"भिद्यते हृदयग्रन्थी छिद्यन्ते सर्वे संशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥"

अर्थात् उस परात्पर ब्रह्म से साक्षात्कार प्राप्त करते ही हृदय की अज्ञानमयी ग्रंथियाँ नष्ट हो जाती है। उसके सर्व संशय छिन्न हो जाते है। वह पापो से मुक्त हो जाता है। जायसी ने भी उपर्युक्त पंक्तियों में इन्ही बातो का चित्रण किया है। वे इस दृष्टि से कबीर से मिलते-जुलते है। कबीर ने भी साक्षात्कार की दशा का कुछ ऐसा ही वर्णन किया है —

"हरि संगत सीतल भया,
मिटी मोह की ताप।
निस वासर सुख निधि लहा,
अन्तर प्रकटा आय॥"

इस चित्रण पर भारतीय मोक्ष-भावना का प्रभाव दिखलाई पड़ता है।

एक दूसरे स्थल पर जायसी ने साक्षात्कार की स्थिति का और भी अधिक चित्रण किया है। उस स्थल पर वे मोक्ष-भावना के प्रति सूफियों से भी प्रभावित मालूम होते हैं। वे पंक्तियाँ इस प्रकार हैं —

"देखि मानसर रूप सुहावा।
हिय हुलास पुरयिन हुइ छावा॥
गा अँधियार रैनि मसि छूटी।
भा भिनसार किरन रवि फूटी॥"

यहाँ पर कवि ने एक ओर तो सूफी भावना के अनुरूप दिव्य रूप के आनन्द-विधायक पक्ष का उद्घाटन किया है। दूसरी ओर भारतीय श्रुति ग्रन्थो के आधार पर उसने साक्षात्कार की स्थिति मे अज्ञान के निराकरण और ज्ञान के उदय की बात भी कही है। इसी स्थल पर उन्होंने रहस्यवाद की आधार-भूमि आस्तिकता के प्रति भी श्रद्धा प्रकट की है। जायसी के रहस्यवाद की यही विशेषता थी।

साक्षात्कार के बाद तादात्म्य या पूर्ण एकाकार की स्थिति आती है। जायसी सूफी थे। सूफी पूर्ण तादात्म्य की स्थिति मे पूर्ण विश्वास नहीं करते। उन लोगो की धारणा है कि साधक और साध्य नीर-क्षीर की तरह कभी एक नही होते है। उनके इस मत का प्रकटीकरण निकल्सन ने अपने "आइडा आफ परसैनलिटी इन सूफिज्म" नामक ग्रन्थ में किया है। जायसी के 'पद्मावत' मे कही पर भी तादात्म्य की उस स्थिति का वर्णन नही किया गया है जहाँ साधक और साध्य नीर-क्षीर के समान एक हो जाते है।

अद्वैतता: अब हम जायसी के रहस्यवाद के प्रेम पक्ष से हटकर अध्यात्म पक्ष की ओर आते है। अनेक मे एक के दर्शन करना रहस्यवादी अध्यात्म की प्रधान विशेषता है। इस्पर्जिन ने अपने 'मिस्टिसिज्म इन लिटरेचर' नामक ग्रन्थ मे लिखा है—

Mysticism is in truth a temper rather than a doctrine, an atmosphere rather than a system of Philosophy. Various mystical thinkers save contributed fresh aspects of truth as they have her for they have caught glimpses of her face at different angles, transfigured by diverse emotions so that their testimony, and in same respects their views, are dissimilar to the point of contradiction. Words worth, for instance gained his revelation of dignity through Nature and through Nature alone and where as to Blake Nature I was a hinderance and imagination the only reality. But all other agree in one respect in one passionate assertion and this is that unity underlies diversities. This their starting point and their goal is the basic fact of Mysticism which in its widest sense may he described as an attitude of the mind founded upon and instutive or experienced convictions of unity of one ness, of alikeness in all things. From this source springs all Mystical thoughts and the Mystic of whatever age or country world say the words of Krishana:-

There is true knowledge
Learn there it is this,
To see one changeless life in all the lives,
And in the seperate inseperable.

Introduction page 3.

उपर्युक्त पंक्तियों में विद्वान् लेखक ने अनेकता में एकता के दर्शन को सब कालों और सब देशों के रहस्यवाद का मूल और प्राणभूत तत्त्व माना है। गीता के उद्धरण से उसने अपनी इस बात को पुष्ट भी

किया है। जायसी एक सच्चे रहस्यवादी कवि थे, अतएव रहस्यवाद के इस मूलभूत तत्त्व की अभिव्यक्ति उनके 'पद्मावत' मे स्थल-स्थल पर मिलती है। अनेकता मे एकता की इस अनुभूति की अभिव्यक्ति उन्होंने व्यष्टि म समिष्ट के आरोप द्वारा की है। जहाँ कहीं भी उन्हे स्थान और समय मिला है उन्होने व्यष्टिपरक लौकिक वर्णा मे पर समष्टि का आरोप करके उन्हे अलौकिक रूप दे दिया है। इसके लिए उन्होने समासोक्ति, रूपकातिशयोक्ति, हेतूत्प्रेक्षा, रूपक आदि का आश्रय लिया है—

"विरह की आग सूर ज काँपा
रातिउ दिवस जरै उर तापा ॥
ओ सब नखत तराई जरई ।
टूटहि लूक धरति मँह परई ॥
जरहि सो धरती ठावहि ठाहूँ ।
दहात पलास जरै तेहि दाऊँ ॥"

साधना पक्ष का वर्णन करते हुए भी उन्होने सृष्टि के समस्त पदार्थों को प्रियतम की साधना मे चित्रित करके समष्टि भावना का बडा ही मार्मिक वर्णन किया है —

"धाय जो बाजा के मन साजा ।
मारा चक्र भयउ दुई आधा ॥
पवन जाहि तहँ पहुँचै चहा ।
पारा तैस लोटि भुइ रहा ॥
अगिनि उठी, जरि उठी निआना ।
धुआँ उठा, उठि बीच बिलाना ॥
पानि उठा, उठि जाई न छूआ ।
बहुरा रोइ, आइ भुइ चूआ ॥"

रूप-वर्णन में जायसी ने अतिशयोक्ति के सहारे विराट् भावन चित्रित करने की चेष्टा की है। उनकी नायिका जब वेणी खोलकर

बाल झाड़ती है, तब स्वर्ग और पाताल में अंधकार फैल जाता है—

"बेनी घोर झार जो बारा ।
सरग पतार होइ अँधियारा ॥"

विराट् भावना के चित्रण के हेतु उन्होने कही-कहीं हेतूत्प्रेक्षाओं का भी प्रयोग किया है । उदाहरण के रूप मे निम्नलिखित पंक्तियाँ देखी जा सकती है—

"सदम किरन जो सुरज रिपाई ।
देखि ललार सोउ छिप जाई ॥"

इस प्रकार उन्होने विविध शैलीगत विधानो के सहारे अनेकता में एकता दिखलाने की चेष्टा की है । व्यष्टि मे समष्टि के इस आरोप से, लौकिकता मे अलौकिकता की इस प्रतिष्ठा से उनके रहस्यवाद में स्वर्ण-सुगंधि-सयोग उपस्थित हो गया है ।

प्रतीक योजना: - अब हम थोडा-मा विचार जायसी की प्रतीक-पद्धति पर कर लेना चाहते है । जायसी सूफी थे । सूफी साहित्य प्रतीको से भरा पड़ा है । चन्द्रबली पाण्डेय के शब्दो मे—"सूफियो के रक्षक उनके प्रतीक ही रहे है । यो तो किसी भी भक्ति-भावना मे प्रतीको की प्रतिष्ठा होती है, पर वास्तव में तसव्वुफ में उनका पूरा प्रसार है। प्रतीक ही सूफी-साहित्य के राजा है ।"

रहस्य-भावना की अभिव्यक्ति मे प्रतीक-पद्धति कई प्रकार से सहायक होती है । रहस्यमयी अनुभूतियाँ अनिर्वचनीय होती है । भाषा उन्हें अपनी सम्पूर्णता में अभिव्यक्त करने मे असमर्थ रहती है। इसके लिए साधक लोग तरह-तरह के प्रतीको रूपको, और समासोक्तियो की योजना किया करते है । अनिर्वचनीय को वचनीय बनाने के अतिरिक्त प्रतीक-विरोधी मतो के मधर खडन और अप्रत्यक्ष खडन मे भी समर्थ होते हैं । फारिज[१] ने इसीलिए लिखा है कि प्रतिको के प्रयोग से दा

१. Studies in 'Islamic Mysticism.' Page 233.

लाभ प्रत्यक्ष होते है—एक तो प्रतीकों की ओट लेने से धर्म-बाधा टल जाती है दूसरे उनके उपयोग मे उन बातों की अभिव्यजना भी खूब हो जाती है जिनके निदर्शन मे वाणी असमर्थ अथवा मूक होती है। उन दो उपयोगो के अतिरिक्त प्रतीक-पद्धति एक तीसरे प्रकार से भी उपयोगी प्रतीत होती है। इनमे साहित्य मे एक विचित्र सौन्दर्य आ जाता है। प्रतीक-पद्धति प्राय लक्षणा एवं व्यजना के सहारे खडी रहती है। साहित्य का प्राण ध्वनि है। प्रतीको के सहारे इस ध्वनि की मधुर व्यजना हुआ करती है। इनसे काव्य मे एक विचित्र रमणीयता आ जाती है। सच तो यह है कि अप्रस्तुतो की योजना के बिना काव्य नही रहता है। प्रतीको में भी अप्रस्तुत योजना का ही रूपान्तर है। रहस्यवाद की आधार-भूमि भावना दिव्य प्रणय है। साधक उस दिव्य प्रणय की अभिव्यक्ति के लिए तड़पता रहता है, किन्तु असीम की अनुभूतियाँ अपनी सम्पूर्णता में व्यक्त नही की जा सकती। साथ ही उनको अनुभव करने वाला साधक उनकी रमणीयता और मधुरिमा से इतना अधिक मुग्ध रहता है कि वह उन्हे बिना अभिव्यक्त किये हुए रह भी नही सकता। इसके लिए वह उन लौकिक सम्बन्धो के प्रतीको की योजना करता है जिनमे प्रणय की चरम परिणति पाई जाती है। लोक मे प्रणय की चरम परिणति प्रेमी और प्रेमिका के प्रणय मे पाई जाती है। पति और पत्नी का प्रेम भी कम तीव्र नही होता। किन्तु दोनो मे अन्तर इतना है कि एक सयम की आधार-भूमि पर खडा रहता है दूसरा सयमहीन रहस्यमयता की आधार-भूमि पर। यही कारण है कि जो रहस्यवादी आदर्शवादी होते है वे पति-पत्नी के प्रतीकों की योजना करते है और जो कट्टर प्रेमवादी होते है वे प्रेमी और प्रेमिका के प्रतीकों की योजना करते है। जायसी ने मध्य मार्ग को ग्रहण किया। वे कट्टर प्रेमवादी होते हुए भी थोड़ा-बहुत भारतीय आदर्शवाद से भी प्रभावित थे। यही कारण है कि उनके 'पद्मावत' में रत्नसेन और

पद्मावती का प्रेमी और प्रेमिका के रूप में चित्रण किया गया है। बाद मे वही प्रेम पति पत्नी के प्रेम में परिणत हो जाता है। पद्मावती पहले प्रेमिका थी, बाद में वह सती पत्नी बन गई। जायसी ने इसी दाम्पत्य-प्रतीक को अपनाने की चेष्टा की है, जिससे वे अपनी अभिव्यक्ति मे अच्छा सौन्दर्य ला सके है। इस दाम्पत्य-प्रतीक के अतिरिक्त जायसी ने सूर्य और चन्द्र के प्रतीको को भी अपनाने की चेष्टा की है। उन्होंने अनेक स्थलो पर पद्मावती को चन्द्र और रत्नसेन को सूर्य कहा है। कही-कही उन्होने 'रतन पदारथ' के प्रतीको से भी रत्नसेन और पद्मावती का बोध कराया है।

अन्योक्तियाँ और समासोक्तियाँ:—प्रतीक-योजना के अतिरिक्त जायसी ने रहस्य-भावना की अभिव्यक्ति के लिए समासोक्तियो और अन्योक्तियों की भी योजना की है। इनका विस्तृत विवेचन हम जायसी के आध्यात्मिक रहस्यवाद का निरूपण करते समय कर चुके है। यहाँ पर प्रसंगवश सकेत-मात्र कर देना चाहते है। समासोक्तियाँ एक-दूसरे से परस्पर भिन्न होती है। अन्योक्तियो में कवि अप्रस्तुत के सहारे प्रस्तुत का वर्णन करता है और समासोक्तियो में प्रस्तुत के सहारे अप्रस्तुत का सकेत करता है। जायसी में सफल अन्योक्तियाँ बहुत कम मिलती हैं। यद्यपि उन्होने अपने काव्य को अन्योक्तिमूलक ही सिद्ध करने की चेष्टा की है किन्तु फिर भी उनमें अन्योक्ति के स्थान पर समासोक्ति का समावेश अधिक मालूम पडता है। 'पद्मावत' के अन्त में उन्होंने समस्त कथा को अन्योक्ति द्वाराध्वनित करने की चेष्टा की है। वे लिखते है—

तन चितउर, मन राजा कीन्हा। हिय सिहल, बुधि पदमिनि चीन्हा।
गुरु सुआ जेइ पंथ देखावा। बिन गुरु जगत को निरगुण पावा?
नागमती यह दुनिया-धन्धा। बाँचा सोइ न एहि चित बाँधा॥

राघव दूत सोई सैतानू । माला अनहदी सुलतानू ।
प्रेम-कथा एहि भाँति बिचारहु । बूझि लेहु जौ बूझै पारहु ।।"

यद्यपि जायसी ने उपर्युक्त पंक्तियो मे पद्मावती की कथा को अन्योक्ति बतलाने की चेष्टा की है, किन्तु वे पद्मावत में सर्वत्र उसका निर्वाह नही कर सके है। उपर्युक्त पंक्तियो मे पद्मावती को बुद्धि माना है। इसके विपरीत उन्होने कही-कही रत्नसेन को चेला और पद्मावती को गुरु कहा है —

"पद्‌मावति के गुरु हौं चेला ।"

उपर्युक्त पंक्तियो में उन्होने तोते को 'गुरु' कहा है। इस प्रकार की प्रत्यक्ष विरोधी उक्तियां ही इनका प्रमाण है कि वे अन्योक्ति के निर्वाह में पूर्ण सफल नही हुए है। 'पद्मावत' मे समासोक्तियो की छटा बहुत सुन्दर दिखलाई पड़ती है। उसका कारण उनकी संकेतात्मक माया और शैली है। जैसे—

"जेहि वह पाई छाँह अनूपा ।
सो नहिं आय परै यहि कूपा ।।"

इनका विस्तृत उल्लेख हम पीछे कर चुके है, अत अब व्यर्थ का विस्तार नही करना चाहते ।

रूपकातिशयोक्तियाँ :—जायसी ने रूपको की योजना बहुत कम की है, किन्तु उनकी रूपकातिशयोक्ति बहुत सुन्दर है। इनके सहारे भी उन्होने कही-कही रहस्य-भावना की अच्छी अभिव्यक्ति की है। निम्नलिखित पंक्तियों मे देखिए उन्होने रूपकातिशयोक्ति के प्रयोग से रहस्य-भावना को कितना अधिक मार्मिक बना दिया है—

"निकसा कुमुद देखि ससि रेखा । भई तहँ ओप जहाँ जेहि देखा ।।"

हेतूत्प्रेक्षाएँ :—रूपकातिशयोक्ति के अतिरिक्त रहस्य-भावना में जायसी की हेतूत्प्रेक्षा ने भी हाथ बटाया है। हेतूत्प्रेक्षा में कवि काल्पनिक हेतुओं की योजना करता है —

हठयौगिक रहस्यवाद के रूप मे निम्न लिखित पक्तियाँ विचार-णीय है —

"निति गढ बाँचि चलै शसि सूरू। नाहि ते होय बाजि रथ चूरू।
पौरी नवौ वज्र कै साजी। सहस सहस तहँ बैठे बाजी॥
फिरहिं पाँच कोतवार सुभौरी। काँपै पावै चपत वह पौरी।
पौरिहि पौरि सिह गढ़ि माढे। डरपहि लोग देखि तहँ ठाढ़ै॥
बहु विधान वै नाहर गढ़े। जनु गाजहिं, चाहहि सिर चढ़ै।
टरहि पूँछ पसारहि जीहा। कुंजर डरहि कि गुञ्जरि लीहा॥"

अब यहाँ पर उपर्युक्त पंक्तियो की थोडी-सी विवेचना करके जायसी ने यौगिक रहस्यवाद को स्पष्ट करना देना चाहते है। यहाँ पर जायसी के सिहल गढ को शरीर के रूपक से स्पष्ट करने की चेष्टा की है। जिस प्रकार शरीर मे नव चक्र होते हैं, उसी प्रकार उस सिहलगढ़ में नव द्वार है। जिस प्रकार शरीर के चक्र वज्र के समान अभेद होते हैं उसी प्रकार सिहल गढ़ के नव द्वार भी अभेद्य है। इसी तरह जिस प्रकार चक्र-भेदन मे साधक को पग-पग पर अनेक प्रकार के माया मद मनोविकार बाधक सिद्ध होते है और चक्रों का मर्दन नही होने देते है उसी प्रकार उस सिंहलगढ़ के प्रत्येक द्वार पर सैकड़ो 'पाजी' अर्थात् पैदल सिपाही प्रहरी के रूप में उसकी रक्षा करते है। कोई भी साधारण व्यक्ति उनमे प्रवेश नही पा सकता। इन सैकड़ों मायामय मनोविकारों के अतिरिक्त पंच महा मनोविकार साधक को चक्र-भेदन में असफल बनाने की चेष्टा करते है। इधर गढ के प्रत्येक द्वार पर सैकडो पैदल सिपाहियों के ऊपर पॉच कोतवाल तैनात रहते है। ये साधारण व्यक्ति को उन द्वारों से प्रवेश नही करने देते। शरीर मे जो चक्र पाए जाते हैं, उनमें से प्रत्येक की अधिष्ठात्री कोई-न-कोई देवी अवश्य होती है। देवी का वाहन सिह है। चक्रों के द्वार पर ही देवी की उपस्थिति का द्योतक उनका वाहन सिह वर्तमान रहता है जो साधक को चक्र का भेदन नहीं

करने देता। इधर गढ़ पक्ष में गढ के प्रत्येक द्वार पर सिंह चित्रित दिखाए गए है। वे सिंह इतने सजीव प्रतीत होते है कि उन्हे देखकर ऐसा लगता है कि मानो वे गरजकर अभी खा जायेंगे। इस चित्रण से जायसी ने अपने युग की स्थापत्य-कला की स्थिति की ओर भी सकेत किया है। इन नवों चक्रों में विविध दल होते है। इन दलो की समता जायसी ने द्वारों पर पाई जाने वली स्वर्ण सीढियों से की है। इस प्रकार गढ़ के रूपक से नव चक्रों का यहाँ पर बड़ा रहस्यात्मक वर्णन किया गया है। अब दशम द्वार के व्याज से ब्रह्मरन्ध्र का जो वर्णन किया गया है उसे देखिए; वह भी बड़ा ही रहस्यात्मक है, जो कि इस प्रकार है —

"नव पौरी पर दसवं दुवारा। तेहि पर बाज राज-घरियारा॥
घरी सौ बैठिं गनै घरियारी। पहर पहर सो आपनि बारी॥
जबहीं घरी पूजि तेइँ मारा। घरी घरी घरियार पुकारा॥
परा जो डाँड जगत सब डाँडा। का निचित माटी कर भाँडा?
तुम्ह तेहि चाक चढ़ हौ काँचे। आएहु रहै न थिर होइ बाँचे॥
घरी जो भरी घटी तुम्ह आऊ। का निचिंत होइ सोउ बटाऊ?
पहरहिं पहर गाजर निति होई। हिया बजर, मन जाग न सोइ॥"

यहाँ पर कवि ने सिंहलगढ़ में दसवें द्वार का वर्णन किया है। इस द्वार पर राज घड़ियाल बजा करता है। हठयौगिक अर्थ पक्ष में दशम ार ब्रह्मरन्ध्र का प्रतिरूप कहा जायगा। राज घरियार अनहद नाद का प्रतीक कहा जा सकता है। घरियारी को हम साधक मान सकते है, जिस प्रकार घरियारी घड़ी रूपी जल-पात्र के पूर्ण रूप होने पर जो कि घटिका का द्योतक है, घरियारी अर्थात् घंटा बजाने वाला घंटा बजा देता है। इसी प्रकार प्रत्येक घटे के बीतने पर घंट-ध्वनि होती है। इधर अनहद नाद श्रवण साधक में जब अग्रसर होता है तब उसे स्तर-स्तर पर तरह-तरह के नाद सुनाई पड़ते है। गढ़ के द्वार पर प्रत्येक

घटिका के अन्त में होने वाली घंट-ध्वनि विश्व की नश्वरता का संदेश देती है, उसी प्रकार साधक जब एक स्तर से दूसरे स्तर की ध्वनि सुनता है तो उसके हृदय में क्रमशः संसार की नश्वरता का और अधिक आभास होने लगता है। इस अवतरण की अन्तिम पंक्तियों में कवि हठयौगिक अर्थ को सफलता पूर्वक नहीं घटा सका है। वे पंक्तियाँ सिंहल-गढ के द्वार पर होने वाले घंट-ध्वनि-जनित संदेश की सूचक-मात्र हैं। फिर भी अवतरण की प्रथम पक्तियाँ ब्रह्मरन्ध्र तथा उनमें होने वाले अनहद नाद के कारण काफी रहस्यात्मक हो गई है। इनसे भी अधिक रहस्यात्मक इनके बाद का अवतरण है। वह इस प्रकार है —

"गढपर नीर खीर दुइ नदी। पनिहारी जैसे दुरपदी।
और कुण्ड एक मोती चूरू। पानी अमृत, कीच कपूरू॥
ओहि क पानि राजा पै पीया। बिरिध, नहिं जौ लहि जीया॥
कंचन बिरिछ एक तेहि पासा। जस कलपतरु इन्द्र कवि लासा॥
मूल पतार सरग ओहि साखा। अमर बेलि को पाव को चाखा।
चाँद पात औ फूल तराईं। होइ उजियार नगर जहँ ताईं॥
यह फल पावै तप करि कोई। बिरिध खाइ तौ जोवन होई॥

इस अवतरण में जायसी ने कुछ अधिक जटिल सांकेतिक भाषा का प्रयोग किया है। पनिहारी साधक का प्रतीक है। 'गढ़ पर' शब्द सहस्रार कमल का द्योतक है। 'नीर खीर' नामक दो नदियाँ सम्भवतः इड़ा और पिंगला की सूचक है। उसे दुरपदी इसलिए कहा गया है कि पाँच नाड़ियाँ योग में इड़ा, पिंगला, सुषुम्बा और ब्रह्म नाड़ी हैं। कुण्ड ब्रह्मरन्ध्र का द्योतक प्रतीत होता है। उसके जल का पान करने वाला राजा राजयोगी का सकेतक है। ब्रह्मरन्ध्र में जो चन्द्र तत्त्व झरा करता है, वही अमृत है। उसे पान करने वाला अमर हो जाता है। कंचन वृक्ष हमारी समझ में ब्रह्म रन्ध्र में पाया जाने वाला द्वार है। 'मूल पतार' का भाव निम्नस्थ देश में स्थित मूला-

धार चक्र से है। चाँद का अर्थ ब्रह्मरन्ध्र में स्थित चन्द्र-तत्त्व से लिया जा सकता है। सक्षेप मे इन पक्तियो का अर्थ इस प्रकार है—शैव रूपी गढ़ के ऊपरी भाग मे अर्थात् ब्रह्माण्ड मे इडा और पिंगला नाम की दो प्रधान नाडियाँ हैं, जो नीर और क्षीर के सदृश अलग-अलग है। इन इड़ा और पिगला की उद्भूत साधना का उपभोग करने वाला कोई हठ-योगी साधक ही होता है। वह ड़ा पिंगला और सुषुम्ना, चित्रा और वज्र आदि पंच नाडियों की उपासना करने के कारण चपति उपासिका द्रोपदी के सदृश है। कुछ लोग पनिहारी का अर्थ सुषुम्ना नाडी भी लेते है। जिस प्रकार द्रोपदी के पाँच पति थे उसी प्रकार मुषुम्ना नाड़ी इडा, पिगला, चित्रा और वज्रा आदि ंच नाडियो का अधिकार रखती है। इसीलिए उसे द्रोपदी के सदृश कहा गया है। उसी ब्रह्माण्ड मे व्रह्मरन्ध्र है, जिसकी समता कुण्ड से की गई है। ब्रह्मरन्ध्र में अनिर्वचनीय सुषमा के दर्शन और अलौकिक रस की अनुभूति होती है। वहाँ साधक को विचित्र मधुमयी सुरति की अनुभूति भी होती है। जायसी ने "मोती चूरू" 'यानी अमृत' "कीच कपूरू" लिखकर ब्रह्मरन्ध्रान्तर्गत अनुभव होने वाले सौन्दर्य-सुरभि और रस आदि की अलौकिकता की ओर संकेत किया है। इस प्रकार के ब्रह्मरन्ध्र रूपी कुण्ड के जल का पान कोई राजा रूपी राजयोगी ही कर सकता है। इस ब्रह्म रन्ध्र के समीप सुषम्ना का मार्ग भी होता है जो प्रकाशमय वृक्षाकार-सा प्रतीत होता है। जायसी ने उसीको "कंचन विरिच" कहा है। उसकी समता उन्होंने इन्द्र-लोक के कल्पतरु से की है। इस सुषम्ना रूपी वृक्ष का मूल निम्नस्थ प्रदेश में स्थित मूलधार मे रहता है। इस सुषुम्ना मूलाधार से उत्पन्न होकर ब्रह्मरन्ध्र तक फैली हुई अमर बेल के रस का पान कोई विरला ही कर पाता है। उस ब्रह्मरन्ध्र मे चन्द्र-तत्त्व का प्रकाश रहता है। फूल के सदृश तारावलियो की छटा भी दिखलाई पड़ती है। सम्पूर्ण ब्रह्मरन्ध्र रूपी नगर इस अनिर्वचनीय प्रकाश से प्रका-

शित रहता है। उस अमर बेल के अमृतत्व रूपी फल को कोई विरला ही प्राप्त कर पाता है। इस अमृतत्व का लाभ प्राप्त करके वृद्ध भी युवा हो जाता है। इस प्रकार उपर्युक्त क्तियो मे जायसी ने हठयोग की अच्छी अभिव्यक्ति की है। ब्रह्मरन्ध्र के रहस्यात्मक वर्णन 'पद्मावत' में और कई स्थलो पर मिलते हैं। एक वर्णन सात समुद्र खड मे पाया जाता है। वह इस प्रकार है—

"देखि मानव रूप सुहावा। हिय हुलास पुरइन होई छावा॥
भा अँधियार रैन मसि छूटी।"

इस अवतरण की प्रायः सभी क्तियाँ यौगिक रहस्यवाद का ही सुन्दर स्वरूप कही जा सकती हैं।

योग का एक प्रमुख सिद्धान्त है कि जो ब्रह्म मे है वही पिण्ड मे है। जायसी ने गढ और पिण्ड की एकरूपता चित्रित करके योग के उसी रहस्यात्मक सिद्धान्त की ओर सकेत किया है —

"गढ़ तस बाँक जैस तोरी काया। पुरुप देखि ओही कै छाया॥
पाइय नाहि जूझ हाठ कीन्हें। जेइ पावा तेइ आपुहि चीने॥
नौ पौरी तेहि गढ़ मझियारा। औ तह फिरहि पाँच कोटवारा॥
दसवं दुआर गुपुत एकताका। अगम चढ़त, बाट सुठि बाँका॥
भेदै जाई सोई वह घाटी। जो लहि भेद, चढ़ै होइ चाँटी॥
गढ़तर कुण्ड, सुरंग तेहि माँहा। तहँ वह पंथ कहौ तेहि पाँहा॥
चोर बैठि जस सेंधि सँवारी। जुआ पैंत जस लाव जुआरी॥
जस मरजिया समुद धँस, हाथ आव तव सीप।
ढूँढ़ि लेइ जो सरग-दुआरी चढ़ै सो सिंहल दीप॥"

उपर्युक्त पंक्तियों मे जायसी ने नौ चक्र तथा दशम द्वार ब्रह्मरन्ध्र तथा तत्सम्बन्धी साधना का विस्तार से रहस्यात्मक वर्णन किया है। ब्रह्मरन्ध्र के वर्णन से सम्बन्धित निम्नलिखित क्तियाँ बहुत रहस्यात्मक मालूम होती है :—

"दस द्वार ता स के लेखा । उलटि दिष्टि जो लाख सो देखा॥"

इस प्रकार जायसी मे अन्य स्थलो पर भी हठयोग से सम्बन्धित रहस्यात्मक वर्णन मिलते हैं ।

जायसी के हठयौगिक, रहस्यवाद की कुछ अपनी विशेषताएँ है । वह कबीर के हठयौगिक रहस्यवाद थोडा भिन्न प्रतीत होता है। पहली बात तो यह है कि वह कबीर के हठयौगिक रहस्यवाद के सदृश अत्यधिक जटिल और दुरूह नही है । फिर उनमें कबीर-जैसी शुष्कता भी नहीं आने पाई है । कवि ने जहाँ कही भी हठयोग का वर्णन किया है वहाँ उसने राजयोग को ही अधिक महत्त्व दिया है । हठयोग के प्रति उनकी विशेष श्रद्धा न थी । राजयोग का मार्ग अधिक जटिल नही है और न उतना शुष्क ही है । इसीसे उनका हठयौगिक रहस्यवाद भी अधिक कटु प्रतीत नहीं होता। जो भी हो इतना तो अवश्य है कि भावनात्मक रहस्यवाद के क्षीर-सागर में हठयौगिक रहस्यवाद के दो-चार स्थल कांजी सीकर के सदृश प्रतीत होते हैं ।

जायसी के रहस्यवाद की विशेषताएँ

जायसी के रहस्यवाद की प्राणभूत विशेषता 'प्रेम की पीर' है—

"मुहम्मद कवि यह जोरि सुनावा ।
सुना सो पीर प्रेम का पावा ॥
जोरीं लाइ रकत कैलेई ।
गाि प्रीति नयनन जल भेई ॥"

'प्रेम की पीर' के दो पक्ष विचारणीय है । एक तो प्रेम पक्ष, दूसरा पीर पक्ष । जायसी का रहस्यवाद प्रेम और पीर के मधुमय सुहाग का ही सुन्दर परिणाम है । प्रेम जायसी के रहस्यवाद का मूल स्वर है । उनका प्रत्येक प्रकार का रहस्यवाद प्रेम और मधुर भावना से अनुप्राणित है । इस प्रेम-तत्त्व नें उनके रहस्यवाद को मधुर-से-मधुरतम बना दिया है ।

उनके प्रेममूलक रहस्यवाद का विवेचन करते समय मैं उनके इस पक्ष का सम्यक् उद्घाटन कर चुका हूँ। अतः यहाँ पर अधिक विषय-विस्तार करना अनावश्यक है।

पीर प्रेम की चिर संगिनी है। जहाँ प्रेम है वहाँ पीर है। पीर से अभिप्राय है प्रेम-जनित विरह-वेदना का। जायसी ने स्पष्ट लिखा है कि प्रेम की बेल के साथ विरह सदैव वर्तमान रहता है इसी विरह से विश्व जलता रहता है—

"प्रीत बेलि सँग विरह अपारा।
सरग पतार जरै तेहि झारा॥"

यह प्रेम-जनित विरह-वेदना, प्रेम की यह पीर परिणाम मे मधुर होती है—

"प्रीति बेलि अरुझै जब।
तब सुछाँह सुख-साख॥
मिलै पिरीतम आइकै।
दाख बेलि रस चाख॥"

जायसी के रहस्यवाद में कही-कही लौकिकता और श्रृङ्गारिता बहुत अधिक मुखरित हो गई है। इसके परिणामस्वरूप उनकी रहस्य-भावना कही-कही आवश्यकता से अधिक ललित और विलासपूर्ण हो गई। सौन्दर्य-जनित आकर्षण ने उसे और भी अधिक और भावपूर्ण बना दिया है। उनके नख-शिख-प्रसंग में जिस रहस्य-भावना की अभिव्यक्ति हुई है वह अत्यधिक सुकोमल और वासनामय है। प्रेम-मूलक रहस्यवाद के अन्य पक्ष भी बहुत अधिक भावपूर्ण है। पीछे हम इनके अनेक उदाहरण प्रस्तुत कर चुके है। यहाँ पर हम केवल एक प्रसंग का संकेत करना चाहते है। नख-शिख-वर्णन में कवि ने समासोक्ति का आश्रय लेकर रहस्य-भावना की अभिव्यक्ति की है। वह अंगों का वर्णन करते-करते अव्यक्त की मधुर व्यञ्जना कर कर देते है। अङ्गों के वर्णन में कवि

ने कुचों के वर्णन मे बहुत अधिक रस लिया है। कुचों के इन वर्णनो को पढकर संयमी का हृदय भी मचल उठता है। इसमे सयमी भी क्या करे जब वे स्वय ही 'हुलसि हिए हठ पूर्वक लगना चाहते है—

"हिये थार कुच कंचन लारू ।
कनक कचोट उठे जनु चारू ॥
कुदन वेल साजि जनु कूदे ।
अमृत रतन मौन दुइ मूँदे ॥
बेधे भौंर कंट केतकी ।
चाहहि बेध कीन्ह कंचुकी ॥
जोबन बान लेहि नहि बागा ।
चाहहि हुलसि हिये हठ लागा ॥
अगिनि वान दुई जानौ साधे ।
जग बेधहि जो होइ न बाधे ॥"

उपर्युक्त आठ पक्तियों मे तो वासनात्मक वर्णन किया गया है। अन्तिम दो पक्तियो में कुचो की विराट्ता तथा उनके विश्व-व्यापी प्रभाव की ओर सकेत करके कवि ने रहस्य-भावना की व्यञ्जना कर दी है। इसी प्रकार प्रेममूलक रहस्यवाद मे अन्य स्थलो पर भी लौकिकता और वासनात्मकता की अतिरेकता दिखाई पडती है। इस प्रकार श्रृङ्गारिता और वासनात्मकता को हम जायसी के रहस्यवाद की दूसरी प्रधान विशेषता कह सकते है।

जायसी के रहस्यवाद की तीसरी प्रधान विशेषता उसका समष्टि-मूलकता है। जायसी ने व्यष्टिमूलक वर्णन करते हुए भी समष्टि पर उसका आरोप किया है। केवल दो-एक स्थल ऐसे है जहाँ व्यष्टिपरक रहस्यवाद की अभिव्यक्ति की गई है। यह वर्णन भी हठयौगिक है। उदाहरण के लिए हम निम्नलिखित दो वर्णन ले सकते है—

(१) "गढ़त सबाक जैस तोरि काया ।
पुरुष देखि ओही कै छाया ॥
पाइय नाहि जूझि हठि कीन्हे ।
जेइ पावा तेई आपुहि चीन्हे ॥

(२) नव पौरी पर दसव दुबारा ।
तेहि पर बाज राज घरियारा ॥"

इसी ढग के दो-चार हठयौगिक वर्णनो को छोडकर जायसी ने सर्वत्र अपने रहस्यवाद की सर्जना मे समष्टि को माध्यम बनाया है। उन्होने इसीलिए पद्मावती का चित्रण विराट् ब्रह्म के रूप मे किया है। उनमे हमें सौन्दर्य, प्रेम, विरह-मिलन आदि के सैकडो समष्टिमूलक रहस्यमय चित्र मिलते है। इनसे सम्बन्धित अनेक उदाहरण ऊपर दिये जा चुके है। किन्तु यहाँ पर बात को अधिक स्पष्ट करने के लिए दो-चार उदाहरण दे देना आवश्यक है। यो तो सौन्दर्य के समष्टिमूलक वर्णन जायसी में मिलते है किन्तु निम्नलिखित वर्णन मे बहुत ही सुन्दर प्रति बिम्बवाद ने उस वर्णन को और भी रहस्यपूर्ण बना दिया है—

"बिगसा कुमुद देखि शशि रेखा ।
भई तह आव जहाँ जेई देखा ॥
पावा रूप रूप जस चाहा ।
ससि मुख जनु दर्पन होइ रहा ॥
नयन जो देखा कवल भा निरमल नीर सरीर ।
हँसत जो देखा हंस भा दसन ज्योति नगहीर ॥"

इसी प्रकार विरह का यह विश्व-व्यापी वर्णन देखिए—

"सुरज बूडि उठा होइ ताता ।
और मजीठ टेसू बन राता ॥
भा वसन्त राती वनस्पती ।
औ राते सब जोगी जती ॥

भूमि जो भीजि भएउ सब गेरू।
औ सब राते पंखि पखेरू॥
राती सती आगिनि सब काया।
गगन मेघ राते सब छाया॥"

एक दूसरे स्थल पर उन्होंने प्रेम-बाण से प्रकृति को बिद्ध दिखाकर प्रेम की समष्टिमूलकता प्रकट की है—

"उन्ह बानन्ह अस को जो मारा।
बेधि रहा सगरौ संसारा॥
गगन नखत जो जाहि न गने।
वै सब ओहि वानि के हने॥
धरती बान बेधि सब राखी।
साखी हाट देहि सब साखी॥"

इसी प्रकार जायसी ने सर्वत्र समष्टिमूलक रहस्य-भावना की व्यञ्जना की है। निश्चय ही समष्टिमूलकता जायसी के रहस्यवाद की प्रधान विशेषता है।

जायसी के रहस्यवाद की अभिव्यक्ति का एक स्पष्ट लक्ष्य और उद्देश्य भी था। वह था सूफी मत और इस्लाम धर्म का प्रचार करना। प्रचार-भावना से प्रेरित होने के कारण उनका रहस्यवाद कहीं-कही सूफी सिद्धान्तो से बुरी तरह आक्रान्त हो गया है। ऐसी दशा मे उसने कही-कही साम्प्रदायिक रूप धारण कर लिया है। निम्नलिखित दोहे में देखिए सूफी बातों का कैसा संकेत किया गया है—

"नवौ खंड नव पोरी।
औ तहँ बज्र किवार॥
चारि बसेरे सो चढ़ै।
सत सो उतरै पार॥"

इसी प्रकार उनके रहस्यवाद में स्थान-स्थान पर प्रचार-भावना अग्रणी दिखाई देती है।

जायसी में हमें रहस्यवाद की बहिर्प्रक्रिया की प्रधानता मिलती है। इसका प्रमुख कारण उसकी समष्टिमूलकता है। समष्टिमूलक रहस्य वाद की व्यञ्जना बहिर्प्रक्रिया के सहारे ही हो सकती है। क्योकि उसमें व्यष्टि का विस्तार समष्टि दिखाना ही अपेक्षित होता है। व्यष्टि का समष्टि मे पर्यवसित होना ही अद्वैतवाद है। इस प्रकार के अद्वैत-वाद की मधुर झाँकी जायसी के रहस्यवाद में जगह-जगह मिलती है। अभी हम कई उदाहरण रहस्यवाद की समष्टिमूलकता दिखाते समय उद्धृत कर चुके हैं। वे सब रहस्यवाद की बहिर्प्रक्रिया और भावात्मक अद्वैतवाद के भी उदाहरण माने जा सकते है। अतः इनके दूसरे उदा-हरण प्रस्तुत करना अनावश्यक है।

जायसी का रहस्यवाद अधिकतर अन्योक्ति और समासोक्तियों के सहारे अभिव्यक्त किया गया है। समासोक्ति की स्थिति सांकेतिकता और ध्वनि पर आधारित होती है। यही कारण है कि जायसी का रहस्य-वाद बहुत-कुछ सांकेतिक और व्यञ्जनात्मक है। उदाहरण के लिए रहस्यमय लोक का यह व्यञ्जनात्मक उदाहरण देखिए—

"जेइ वह पाई छाँह अनूपा।
सो नहि आइ परै वह कूपा॥"

यह साकेतिकता और व्यञ्जनात्कता उनके रहस्यवाद का प्राण है। संक्षेप में जायसी के रहस्यवाद की यही विशेषताएँ है। अपनी इन्हीं विशेष-ताओं के कारण वह लोक में इतना मान्य और प्रतिष्ठित हो सका है।

तुलनात्मक विवेचन

रहस्यवाद का परिचय

रहस्यवाद का स्वरूप वास्तव में रहस्यमय है। बहुत-से लोग इसे एक दार्शनिक वाद समझते हैं, किन्तु यह दर्शन से बिलकुल भिन्न वस्तु है। इसे भारतीय भक्ति-मार्ग से भी भिन्न समझना चाहिए। प्रत्यक्ष तो इसमें भारतीय भक्ति-मार्ग के बहुत-से तत्त्व पाये जाते है,किन्तु दोनो में उपास्य-स्वरूप के सम्बन्ध में मौलिक अन्तर है। भक्त प्रधान रूप से भगवान् के आधिदैविक स्वरूप में विश्वास करता है। रहस्यवादी की साधना ब्रह्म के आध्यात्मिक स्वरूप से सम्बन्धित होती है। ब्रह्म के आध्यात्मिक स्वरूप की प्रतिष्ठा दर्शन में भी है, किन्तु रहस्यवाद का स्वरूप दर्शन के समान तर्क-मूलक और बुद्धि-प्रतिष्ठित न होकर भावना-विनिर्मित होता है। दर्शन और रहस्यवाद में यही मौलिक अन्तर है। इस प्रकार रहस्यवाद दर्शन और भक्ति-मार्ग दोनों से भिन्न है। संक्षेप में हम रहस्यवाद को ब्रह्म के आध्यात्मिक स्वरूप से आत्मा की भावात्मक ऐक्यानुभूति के इतिहास का प्रकाशन कह सकते है। 'अण्डरहिल' ने 'हण्ड्रेड पोइम्स ऑफ कबीर' की भूमिका में रहस्यवाद को 'Temperamental Reaction to the Vision of Reality" अर्थात् सत्य के प्रति भावात्मक प्रतिक्रिया कहा है। रहस्यानुभूति की स्थिति में पहुँचा हुआ साधक ब्रह्ममय हो जाता है। इसीलिए रहस्याभिव्यक्ति को दृष्टा की भविष्य-वाणी भी कहा जाता है। 'प्रसाद' ने भी रहस्यवाद को आत्मा की सकल्पात्मक अनुभूति की मुख्य धारा कहकर यह बात ध्वनित की है। रहस्यवाद के सम्बन्ध में इतना कहकर अब

हम उसके विविध तत्त्वो के प्रकाश में दोनों महाकवियो की रहस्य-भावना पर विचार करते है।

आस्तिकता—रहस्यवाद का सम्बन्ध उस रहस्यमय परोक्ष सत्ता से होता है। तभी तो रूडोल्फ' ने अपने Mysticim of East and West" मे आस्तिकता को रहस्य-भावना की आधार-भूमि कहा है। जायसी और कबीर दोनो ही कट्टर आस्तिक है। इसमे किसी को सन्देह नही हो सकता। जायसी का 'पद्मावत' ईश्वर-वन्दना मे ही प्रारम्भ हुआ है—

"सुमिरौ आदि एक करतारू।
जेंहि जिउ दीन्ह कीन्ह संसारू ॥"

कबीर की तो प्रत्येक बानी से आस्तिकता टपकती है, उसे सिद्ध करने की तो आवश्यकता नही है। यहाँ तक कि नास्तिकों का शून्य भी कबीर मे आकर आस्तिक अद्वैतवादी गौड़पादाचार्य के शून्य स्वरूप ब्रह्म में तथा ईश्वर-विश्वासी योगियो के ब्रह्म रन्ध्र मे परिणत हो गया है। इतना होते हुए भी दोनों की आस्तिकता में अन्तर है। जायसी की आस्तिकता विश्वास पर टिकी हुई है कबीर की प्रत्यक्षानुभूति पर। वे स्पष्ट कहते है—

"देख्या है तो कस कहूँ कहै तो पतियाय।
गूँगे केरी शर्करा बैठे ही मुसकाय ॥"

जायसी बाशरा सूफी थे। उन्हे इस्लाम में कट्टर विश्वास था। इस्लाम में ईमान के अतिरिक्त प्रत्यक्षानुभूति के लिए कोई स्थान नही है। यही कारण है कि जायसी के रहस्यवाद में भावना और कल्पना की प्रधानता है कबीर में वास्तविकता की।

उपास्य स्वरूप—अब थोड़ा-सा दोनो कवियों के उपास्य स्वरूप का निरूपण कर लिया जाय। रहस्यवादी ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करते हुए अण्डरहिल' ने कहा है 'The absolut of the mystic is lov-

able attainable, alive and personal' अर्थात् रहस्यवादी का ब्रह्म प्रेम करने योग्य, प्राप्त करने योग्य, सजीव और व्यक्तिगत होता है उसी बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए उन्होने कहा है—"The mystic conseiousness is two fold being and becoming" अर्थात् रहस्यवादी की रहस्य-चेतना माया और ब्रह्म दोनो से विशिष्ट होती है। अतः स्पष्ट है कि रहस्यवादी का ब्रह्म सगुण और निर्गुण दोनो ही होगा। यहाँ यह स्पष्ट कर देना असगत नही है कि रहस्यवादी की सगुणता भक्त की सगुणता से थोडी भिन्न होती है। रहस्यवादी का सगुण ब्रह्म भावना-विनिर्मित होता है। उसे हम रहस्य-वादी के अन्तर्जगत् का वह मूर्तिमान रूप मान सकते है जिसमें विश्व का कण-कण प्रकाशित है। भक्ति-मार्गी सगुणता केवल भक्त के हृदय मे ही नही सारे विश्व के बीच मे प्रत्यक्ष प्रतिष्ठित रहती है। यही दोनों मे अन्तर है। कबीर और जायसी दोनो के ही उपास्य रहस्यवादी सगुणता और निर्गुणता से विशिष्ट है। दोनो ही तत्त्व रूप ब्रह्म मे विश्वास करते है। दोनो ही शून्यवादी भी है। नूरवाद का प्रभाव भी दोनो पर पडा है। दोनो ही के उपास्य पुरुष रूप है। दोनो में उपास्य-सम्बन्धी इतना साम्य होते हुए भी कुछ मौलिक अन्तर भी है। एक की भावना समष्टिमूलक और विश्व-व्यापिनी है तो दूसरे की व्यष्टिमूलक और एकान्तिक। एक का पुरुष योगियो के पुरुष के समान "*सुनि मंडल-वासी*" है, दूसरे का दिव्य सौन्दर्य और प्रेम विशिष्ट विराट्। कबीर की खोज एक योगी की खोज है। इसीलिए इसमे यौगिक नीरसता है। वह कहते है—

"कोई ऐसा न मिले सब विधि देइ बताय।
सुनि मंडल में पुरुष एक ताही रहै ल्यौ लाय॥"

जायसी की भी खोज बिलकुल ऐसी ही है, किन्तु उसमें सूफी सर-सता तथा सुकुमार भाव-प्रवणता है—

"*चाहों ओहि कर दर्शन पावा, जो मोहि आनि प्रेम पथ लावा।*"

उनकी इस प्रेम-साधना का उपास्य सौन्दर्यमय विराट् पुरुष है। कवि ने पद्मावती के रूप मे यही दिव्य सौन्दर्यमयी विराट् भावना प्रतिष्ठिन की है—

"*नयन जो देखा कमल भा, निर्मल नीर सरीर।*
हँसत जो देखा हंस भा, दसन जोत नग हीर॥"

उपास्य की दिव्य सौन्दर्यमयता ही रहस्यवाद का प्राण है इसी रहस्यवादी सौन्दर्य को दृष्टि में रखकर 'हीगेल' ने लिखा है "Beauty is the spiritual making itself known sensuously" अर्थात् सौन्दर्य आध्यात्मिकता का भावात्मक प्रकाशन है। इसी बात को प्लेटो ने दूसरे ढग से कहा है—"I saw her shining there with the celestial" अर्थात् मैंने सौन्दर्य को दिव्यता के साथ प्रकाशित होते देखा है। जायसी ने इसी आध्यात्मिक दिव्य-सौन्दर्य को देखा था। सारी सृष्टि इस सौन्दर्य से सुन्दर है—

"*बिकसा कुमुद देखि ससि रेखा, भई तहँ ओप जहाँ जोई देखा।*
पावा रूप रूप जस चहा, ससि-मुख जनु दरपन होइ रहा॥"
नयन जो देखा कँवल भा, निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हंस भा, दसन जोति नग हीर॥"
"*बहुतै ज्योति ज्योति ओहि भई॥*"

उनकी साधना का लक्ष्य भी उसी की प्राप्ति है—

"*धाय जो बाजा कै मन साधा।*
मारा चक्र भएहु दुई आधा॥
चाँद सुरुज औ नखत तराहि।
तेहि उर अंतरिख फिरै सवाई॥
पवन जाई तह पहुँचे चहा।
मारा तैस लोटि भुई रहा॥"

कहना न होगा कबीर इस क्षेत्र मे जायसी से पिछड गए है। प्रथम तो वे इस दिव्य सौन्दर्य की भावात्मक अनुभूति ही नही कर सके है, जहाँ कही उन्होने ऐसी चेष्टा भी की है वह सैद्धान्तिक आग्रह के कारण उतनी मधुर नही हो पाई है। अधिकतर वे सौन्दर्य को प्रकाश रूप ही कहकर रह गए है—

"कबीर तेज अनन्त का, मानो ऊगी सूरज सेणि।
पति सँग जागी सुन्दरी, कौतुक दाना तेणि॥"

जहाँ कही उन्होने सौन्दर्य-चित्रण करने का प्रयत्न भी किया है वे प्राय: सिद्धान्त-प्रधान हो गए है—

"लाली मेरे लाल की, जित देखों तित लाल।
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल॥"

इस प्रकार स्पष्ट है कि जायसी का उपास्य कबीर के उपास्य की अपेक्षा अधिक भावात्मक, सरस, ग्राह्य और व्यक्तित्व-प्रधान है।

हम अभी सकेत कर चुके है कि रहस्य-भावना अनुभूति की वस्तु है। अत. अब विचारणीय है कि अनुभवकर्ता कौन है। इस सम्बन्ध मे दोनो रहस्यवादियो मे मतैक्य है। वे आत्मा को अनुभवकर्ता और अनुभूति-तत्त्व दोनों ही मानते है। केवल अन्तर इतना ही है कि कबीर की अनुभूति विचार-प्रधान अधिक है और जायसी की भावना-प्रधान। कबीर आत्मा से आत्मा के विचारने की बात कहते है—

"आपै आप विचारिया, तब केत होय अनन्द रे।"

जायसी विचारने के स्थान पर साक्षात्कार की चर्चा करते है—

"आप पिछौने आपै आप।"

अनुभवकर्ता और अनुभूत तत्त्व—अब प्रश्न यह है कि एक ही आत्मा अनुभवकर्ता और और अनुभूत तत्त्व दोनों कैसे हो सकती है। इस

सम्बन्ध मे हमें उपनिषदो की शरण लेनी होगी। 'कठोपनिषद्' में प्राप्ता और प्राप्तव्य भेद से एक ही आत्मा को "छाया तपो" के समान दो रूप माने है—

"ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके ।
गुहा प्रविष्टौ परमे परार्धे ॥
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति ।
पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेतः ।"

अन्य श्रुति-ग्रन्थों म यह बात दो पक्षियो के रूपक से प्रकट की गई है। आधुनिक दार्शनिक सिद्धान्त की सत्य की अनुभूति सत्य से ही हो सकती है इसके मेल मे है। अत. स्पष्ट है कि साधक की जीवात्मा अनुभवकर्ता होती है और उसकी शुद्ध-बुद्ध-मुक्त नित्य रूप आत्मा अनुभूत तत्त्व। आत्मा रहस्यमय एव आनन्द रूप है इसीलिए अनुभूति भी रहस्यमय और आनन्दमय होती है। अनुभवकर्ता जीवात्मा सब साधकों की एक-सी नहीं हो सकती, इसीलिए सबकी रहस्यानुभूति भी समान नही होती। इसी बात को प्रकट करने के लिए जलालुद्दीन रूमी, कबीर और जायसी तीनो रहस्यवादियो ने अंधे के द्वारा टटोले जाते हुए हाथी के रूपक की कल्पना की है। साधक की जीवात्मा ज्यो-ज्यो साधना के पथ पर अग्रसर होती है त्यो-त्यो उनका विकास होता है। रहस्यमयी सौन्दर्यानुभूति उतनी ही तीव्रतर होती जाती है। इस विकास-दशा की प्राप्ति दोनो कवियो मे थोडा भिन्न रूप से होती है। कबीर योगी होने के कारण क्रियासाध्यता मे अधिक विश्वास करते है—

"कुछ करनी कुछ करम गति कुछ पूरबला लेख ।
देखो भाग कबीर का दोसत किया अलेख ॥"

जायसी के अध्ययन से प्रतीत होता है कि उन्हे कृपासाध्यता म अधिक आस्था थी। *'न जनो कौन पौन लेई आवा'* कहकर उन्होनें यही बात ध्वनित की है।

रहस्यवाद के दो भेदों की आलोचना—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने दो प्रकार का रहस्यवाद माना है । साधनात्मक और भावनात्मक । उन्होने कबीर को प्रथम कोटि मे रखा है और जायसी को दूसरी कोटि में । उनका यह भेदीकरण मुझे अधिक तर्कसंगत नही मालूम पड़ता । रहस्यानुभूति की दो प्रक्रियाएँ होती है । एक के सहारे साधक समस्त विश्व के प्रति एकात्मता का अनुभव करता है और दूसरी से उसे आत्मानुभूति होती है। पहली क्रिया बाह्यात्मक कही जा सकती है और दूसरी आन्तरिक । मै इन्ही प्रक्रियाओ की विशेषता के आधार पर समस्त रहस्यवादियो को दो कोटियो मे बाँटना पसन्द करूँगा—समष्टिमूलक अनुभूति-प्रधान और व्यष्टिमूलक अनुभूति-प्रधान । समष्टिमूलक अनुभूतियो मे प्राय. व्यष्टि मे समष्टि का आरोप होता है यह आरोप भावना-प्रधान, साधना-प्रधान तथा बुद्धि-प्रधान तीन प्रकार का हो सकता है । जायसी मे भावना-प्रधान आरोप मिलते है । उपनिषदो में आरोप बुद्धिमूलक है । योगियो मे यह आरोप साधना-क्षेत्र में दिखलाई पड़ता है । कबीर की *'जो पिण्डे सो ब्रह्माण्डे जान'* वाली उक्ति इस बात को स्पष्ट करती है । व्यष्टिमूलक अनुभूतियाँ अधिकतर भक्ति और योग-क्षेत्र मे पाई जाती है। इस दृष्टि से जायसी प्रथम प्रकार के और कबीर दूसरे प्रकार के रहस्यवादी ठहरते है ।

प्रेम-तत्त्व:—अभी इस रहस्यवाद को आत्मा की परमात्मा के प्रति अनुभव की हुई भावात्मक ऐक्यानुभूति के इतिहास का प्रकाशन कह चुके है । सस्कृत मे भाव का अर्थ : प्रेम भी होता है । कालिदास ने 'कुमार सम्भव' मे *'न वेत्ति भावस्थम् जनम्'* कहकर इसका इसी अर्थ में प्रयोग किया है । भावात्मकता रहस्यवाद का प्रधान तत्त्व है । कबीर और जायसी दोनो ने इसे महत्त्व दिया है । कबीर ने साधना मे इसके अत्यधिक महत्त्व को प्रकट करने के लिए इसे काम के नाम से अभिहित किया है—

"काम मिलावै राम सूँ, जो कोई जानै राख ।"

जायसी इस दिशा मे मसूर हल्लाज के अनुयायी है—

"प्रेम पहार कठिन विधि गाढ़ा।
सो पै चढ़ै जो सिर सौं चाढ़ा॥
पथ सूरि का उठा अंकूरू।
चोर चढ़े कि चढ़ै मसूरू॥"

कबीर नारदी भक्ति मे विश्वास करते थे—

"भगति नारदी हिदै न आई।
काछि कूछि तन दोना॥"

नारद ने भक्ति मे प्रेम को विशेष महत्त्व दिया है। भक्ति की परिभाषा देते हुए उन्होने लिखा है *'सात्वस्मिन परम प्रेमरूपा'* अर्थात् भक्ति ईश्वर के प्रति की हुई अनन्य प्रेमासक्ति है। कबीर की इस नारदी भक्ति का प्रभाव उनके प्रेम-तत्त्व पर पडा है। वे स्पष्ट कहते हैं—

"प्रेम भगति हिडोलना जँह भूलै आतमराम।"

उनका यह भक्तिमूलक प्रेम सूफियो के प्रेमासव से भी सराबोर है—

"हरि रस पीया जानिए जो कबहुं न जाय खुमार।"

जायसी का प्रेम तत्व सर्वथा सूफी है। उसमे सूफी मादकता, कोमलता, भाव-प्रवणता सभी कुछ विद्यमान है—

"सुनि धनि प्रेम सुरा के पिए।
मरन जियन डर रहै न हिए॥
जेहि मद तेहि कहाँ संसारा।
को सो घूमि रह की मतवारा॥
सो पै जान पिए जो कोई।
पी न अघाय जात पर सोई॥"

वह अत्यन्त पवित्र भी है। उसीको सकेतित करके जायसी ने लिखा है *'परिमल प्रेम न आछे छपा।'* शाश्वतता और दिव्यता उसकी अन्य विशेषताएँ है—

"प्रेम सुनत मन भूल न राजा।
कठिन प्रेम सिर देइ तो छाजा॥
प्रेम फाँद जो परा न छूटा।
जिउ जाइ पै फाँद न टूटा॥"

विरह इस प्रेम का सौन्दर्य है। दोनो मे अन्यान्याश्रय भाव माना जाता है। तभी तो जायसी ने लिखा है —

"प्रीति बेलि सँग है विरह अपारा।"

इनके इसी विरह विशिष्ट विराट् प्रेम से सारी सृष्टि भयभीत है —

"मुहम्मद चिनगी प्रेम की सुनि महि गगन डेराय।
धनि बिरही औ धनि हिया जहँ अस अगिनि समाय॥"

गुरु—जायसी और कबीर के प्रेम भाव मे एक और अन्तर है। जायसी का प्रेम रूप-लिप्सा-जनित है और कबीर का संस्कार-मूलक। जायसी के रत्नसेन, पद्मावती रूपी विराट् ब्रह्म के दिव्य सौन्दर्य का सुए रूपी गुरु से वर्णन सुनकर विह्वल हो जाते हैं —

सुनतहिं राजा ना मुरझाई। मानौ लहर सुरजि कहि आई॥"

कबीर में इस प्रकार की रूप-लिप्सा का एक प्रकार से अभाव है। उनका प्रेम-भाव *'कुछ करनी कुछ करमगत कुछ पूरबला लेख'* का परिणाम है। यह प्रेम-तत्व जायसी और कबीर दोनो को अपने गुरु से प्राप्त होता है। एक को प्रेम के रूप मे और दूसरे को विरह-तत्व के रूप मे। कबीर कहते है *'गुरु ने प्रेम का अंक पढ़ाय दिया रे'* इसीको जायसी ने दूसरे ढग से कहा है —

"गुरु विरह चिंनगी जो मेला। जो सुलगाइ लेइ सो चेला।"

रहस्यवाद की अवस्थाएँ:—इस प्रेममूलक रहस्यानुभूति के कई स्तर और सोपान हो सकते है। इसी बात को ध्यान में रखकर आङ्गल

महिला 'अण्डरहिल' ने रहस्य साधना और अनुभूति की पाँच अवस्थाएँ मानी हैं; वे क्रमशः इस प्रकार हैं :—

(१) आत्मा की जाग्रतावस्था (Awakening of the self for absolute):—यह ब्रह्म-जिज्ञासा की स्थिति है। इसी स्थिति को प्राप्त करके साधक ईश्वरानुभूति के लिए तडप उठता है। वेदान्त मे इसे आत्मनात्म-विवेक कहते हैं। इस स्थिति की अन्तिम अवस्था में साधक ज्ञान और वैराग्य की ओर उन्मुख होने लगता है।

(२) आत्मा के परिष्करण की स्थिति (Purification of the self):—इसे हम रहस्यवाद का साधना पक्ष कह सकते है। इसी स्थिति में आकर रहस्यवादी विविध प्रकार की साधनाओं में संलग्न होता है।

(३) आत्मा की आंशिक अनुभूति की स्थिति (Illumination of the self) :—इस स्थिति मे पहुँचकर साधक विविध प्रकार की ध्वनियाँ सुनता है और विचित्र प्रकार के दृश्य देखने लगता है।

(४) रहस्यानुभूति के विघ्नो की अवस्था (The dark night of the soul) :—इस स्थिति मे पहुँच कर साधक की आंशिक ईश्वरानुभूति मे बहुत-सी बाधाएँ उत्पन्न होने लगती है। साधक को इनसे युद्ध करना पड़ता है।

(५) तादात्म्य की स्थिति (Unity of the soul) :—यह आत्मा और परमात्मा के भावात्मक साक्षात्कार की स्थिति है।

जाग्रतावस्था—जहाँ तक प्रथम स्थिति का सम्बन्ध है वह कबीर और जायसी मे समान रूप से पाई जाती है। दोनो में तीव्र प्रियतम-जिज्ञासा है। दोनो मे ही मिलन के लिए एक विचित्र तड़पन है। इसी तड़पन के फलस्वरूप एक ज्ञानोन्मुख हो उठता है, और दूसरा वैराग्य का मार्ग ग्रहण करता है। जायसी ने रत्नसेन रूपी साधक को सौन्दर्य-

भावना से विभोर चित्रित किया है। क्षण-भर के लिए वह दिव्य सौन्दर्य मे तन्मय हो जाता है उस तन्मयता की स्थिति से जगने पर उसे सारा संसार नीरस और शून्य दिखलाई पड़ने लगता है। उसमें तीव्र विराग भाव जाग उठता है —

"जब भा चेत उठा वैरागा । बाउर ज नौ सोइ उठ जागा ॥"

कबीर मे जायसी के इस विराग भाव को बहुत अधिक महत्त्व नहीं दिया गया है। वह वैराग्य को ज्ञान-प्राप्ति का एक साधन-मात्र मानते है, साध्य नही। उन्होने स्पष्ट घोषित किया है —

'कबीर जाग्याहि चाहिए क्या घर क्या वैराग।'

आत्म-परिष्करण — दूसरी स्थिति आत्म-परिष्करण की है ज्ञान और वैराग्य के उदय के पश्चात् साधक एक ओर तो विरह से व्यथित होने लगता है और दूसरी ओर उसे प्राप्त करने के लिए प्रयत्नवान भी। जहाँ तक विरह का सम्बन्ध है कबीर और जायसी दोनो ही ने उसे विशेष महत्त्व दिया है। दोनो मे ही वह एक अध्यात्म तत्त्व के रूप में निरूपित किया गया है, किन्तु उसकी प्रेरणाएँ थोडी भिन्न-भिन्न है। जायसी पर सूफियो का प्रभाव था, किन्तु कबीर सूफी मत और भक्ति-मार्ग दोनो से प्रभावित थे। भक्ति-क्षेत्र मे नारद ने अपने भक्ति-सूत्र में ११ आसक्तियो मे विरहासक्ति को भी विशेष महत्त्व दिया है। कबीर की विरह-साधना भक्तो और सूफियो दोनो से प्रभावित है। कभी तो वह भक्तो के समान कहते है *"जिन पर गोविन्द बीछुड़े तिनको कौन हवाल"* और कभी सूफियो की भाव-प्रवणता लेकर वे लिखते है —

"आँखडिया प्रेम कसाइयाँ लोग जाने दूखड़िया।
साईं अपने कारणौं रोइ रोइ रातड़िया॥"

जायसी की विरह भावना कबीर की अपेक्षा अधिक सरस कोमल भाव मय और व्यापक है। वह उसको समान व्यष्टिमूलक और एकान्तिक न

होकर समष्टिमूलक एव विश्व-व्यापिनी है। जायसी की इस विरह-व्यथा से सारा विश्व विधुर और व्यथित है, प्रकृति के सारे पदार्थ इस व्यथा से विह्वल होकर उस तक पहुँचने की चेष्टा करते है—

"धाय जो बाजा के मन साधा।
मारा चक्र भयउ दुइ आधा॥
चाँद सुरज औ नखत तराई।
तेहि उर अंतरिख फिरहि सवाइ॥
पवन जाहि तह पहुँचै चहा।
मारा तैस लोट भुइ रहा॥"

कबीर और जायसी मे विस्तृत साधनो का भी सकेत मिलता है। जायसी सूफी थे उनमे हमे सूफी साधना के तत्व प्रतिध्वनित मिलते है। सूफी साधना मे साधक रूपी सालिक को चार पडाव और सात मुकामात से होकर गुजरना पडता है—शरियत, तरीकत, हकीकत और मारिफत यह चार पड़ाव है। सात मुकामात नैतिक आचरण के सात तत्व कहे जा सकते है। 'किताब उलउल्म' से उद्धृत करके प्रो० निकलसन ने उन अवस्थाओ के नाम क्रमश. पाश्चात्ताप, वैराग्य, त्याग, दीनता, धैर्य, ईश्वर विश्वास और सतोष दिए है। इस नैतिक परिष्करण के पश्चात् सूफी हाल की स्थिति को प्राप्त करने की चेष्टा करते है। हाल की स्थिति को हम भावातिरेकता की चरम सीमा मान सकते है। यही ईश्वर-प्राप्ति का सरलतम मार्ग है। निकल्सन ने लिखा है—

"Ecstacy in the only means by which soul can directly Communicate" अर्थात् भावातिरेकता की एक ऐसी स्थिति है जिसके सहारे आत्मा सरलता से परमात्मा के साथ ऐक्य स्थापित कर सकती है। रहस्यवादी साधना का प्राण यही भावातिरेकता की स्थिति है। जायसी और कबीर दोनों ही इस भावातिरेकता की स्थिति के महत्व को स्वीकार करते है। जायसी उसकी प्राप्ति 'चार

बसेरे सो चढ़ै सत सो उतरे पार' कहकर सूफी साधना द्वारा ध्वनित करते है। कबीर ज्ञान, वैराग्य और योग मे विश्वास करते थे। उनकी ज्ञानप्रियता कभी-कभी सिद्धान्त-वाक्यो के रूप मे प्रस्फुटित ही निकली है। जैसे—

"जल में कुम्भ कुम्भ में जल है, बाहर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहि समाना यह तत् कथ्यों गियानी॥"

कभी-कभी वे साधना पक्ष मे शुष्क हठयोग की चर्चा भी करने लगते है —

"धोती नेति बसती लाओ।
आसन परम जुगति करवाओ॥
पहिले मूल सुधार कार्य हो सारा॥"

इतना सब होते हुए कबीर की भावना अधिकतर प्रेम और माधुर्य का आश्रय लेकर चली है। उनका राम-रस ही प्रेम-रस है। उसीमें वह निमग्न रहते हैं —

"छाक परयो आतम मतवारा।
पीवत रामरस औ करत विचारा॥"

ध्यान मे देने की बात है कि ऐसे स्थलो पर भी वे अपनी विचारात्मकता से पिण्ड नही छुडा सके हैं। दोनो रहस्यवादियो के साधना सम्बन्धी इसी भेद को लक्ष्य करके श्यामसुन्दरदास जी ने कबीर के रहस्यवाद को दार्शनिक और जायसी के रहस्यवाद को भाव-प्रधान कहा है। आचार्य शुक्ल सत रहस्यवाद के आध्यात्मिक और भावात्मक भेद इसी आधार पर किये जान पड़ते है।

आंशिक अनुभूति—विरह-व्यथित साधक इस प्रकार साधना करते हुए प्रियतम की आशिक अनुभूति मे समर्थ होने लगता है। यह रहस्यवाद की तीसरी स्थिति है। जायसी और कबीर दोनो में इस अवस्था

के वर्णन मिलते है। कबीर ईश्वर की यह आंशिक अनुभूति करके हर्ष से नाच उठते है —

"जानी जानी रे राजा राम की कहानी।"

जायसी में इस स्थिति का वर्णन सूफी सुकुमारता के साथ किया गया है —

"आवत जग बालक जस रोवा।
उठा रोई हा ज्ञान जो खोवा॥
हौं तो उहा अमर पुर अहा।
इहाँ मरनपुर आएउ कहाँ॥"

रहस्यानुभूति की इसी स्थिति मे पहुँचे हुए साधको मे उस प्रियतम के लोक की मधुमयी कल्पना विविध रूपो मे मिलती है। जायसी और कबीर दोनो ने ही लगभग समान शब्दों में उस लोक का भावात्मक संकेत किया है। जायसी कहते है —

जहाँ न राति न दिवस है जहाँ न पौन न पानि।
तेहि वन सुअटा चल बसा कौन मिलावै आनि॥"

कबीर इस बात को इस प्रकार कहते है —

"जरा मरण व्यापै नहीं, मुवा ना सुनिए कोय।
चलि कबीर तेहि देसिड़े, जँह वैद् विधाता होय॥"

जायसी की अपेक्षा कबीर मे हम इस मधुमयी कल्पना की अभिव्यक्ति अधिक सुन्दर रूप मे पाते है। एक स्थल पर वे कहते है —

"नहरवा हमको नहि भावै।
साईं की नगरी परम अति सुन्दर
जहँ कोई आवै न जावै॥"

'अण्डरहिल' ने इसी आंशिक अनुभूति की स्थिति मे विविध ध्वनियो के श्रवण और आंशिक दृश्यो के दर्शन की चर्चा की है। भारतीय

उपनिषदों में आंशिक अनुभूतिमूलक, अनेक विचित्र ध्वनियों और दृश्यों के वर्णन मिलते है। जायसी और कबीर दोनो ही भारत के रहस्यवादी थे। अतएव प्राथमिक अनुभूति की इन विचित्र ध्वनियो और दृश्यो के सकेत दोनो मे मिलते है। किन्तु कबीर मे जायसी की अपेक्षा इनकी अधिकता है। इसके दो कारण हो सकते है। प्रथम तो यह है कि कबीर पर उपनिषदो का प्रभाव अधिक पडा था। अतः सम्भव है कि इसका उन पर कोई मनोवैज्ञानिक प्रभाव हो। दूसरा कारण यह था कि कबीर की साधना व्यष्टिमूलक और यौगिक थी। इस कोटि की अनुभूतियाँ व्यष्टि-साधना के मार्ग मे ही सम्भव होती है जायसी मे भी जहाँ कही हठयौगिक व्यष्टिमूलक वर्णन मिलते है, । वहाँ इस प्रकार की अनुभूतियाँ भी व्यक्त की गई है —

"दसम दुआर ताल कै लेखा।
उलटि दिस्ट लावा सो देखा॥"

और भी देखिए—

'नव पौरि पर दसम दुआरा। तेहि पर बाज राज घरियारा॥' किन्तु ऐसे स्थल कबीर की अपेक्षा जायसी मे बहुत कम है। कबीर की सारी रचनाएँ इस प्रकार की अनुभूतियो से भरी पडी है। कही तो वे कहते है *'कमल जो फूले जलह बिन,'* कही पर प्रेम के विचित्र हिंडोले का वर्णन करते है, कही पर *'गगनगरज अमृत चुवै'* की चर्चा करते है।

विघ्न की अवस्था—इस प्रकार की यह आशिक रहस्यानुभूतियाँ अधिक देर नही टिकने पाती। इन अनुभूतियो के मार्ग में अनेक विघ्न आने लगते है। यह साधक की परीक्षा का अवसर होता है। इस लिए इस स्थिति को अण्डरहिल ने Dark night of the soul कहा है। इसी स्थिति के अनुसार उन तमाम विकारो के वर्णन आते है जो ईश्वरानुभूति मे बाधक होते है। यद्यपि जायसी ने भी इन विकारों का सकेत किया है किन्तु कबीर ने इससे सम्बन्धित वर्णनो की भरमार

की है। जायसी सूफी थे और कबीर भारतीय मायावादी। सूफी लोग शैतान को साधना में बाधक के रूप मे मानते है। सूफियों के शैतान की यह कल्पना जायसी को मान्य थी। राघव चेतन को उन्होंने शैतान के रूप में ही कल्पित किया है। अन्योक्ति बाँधते समय उन्होने कहा भी है—*'राघव चेतन सोई शैतान'*। कबीर ने सूफियो की इस कल्पना को नही अपनाया है। वे वेदान्त के मायावाद से प्रभावित है। माया का परिवार बहुत लम्बा-चौडा है। कबीर ने इसका जगह-जगह पर उल्लेख किया है। इनके अतिरिक्त उन्होंने माया का वर्णन रूपको के सहारे भी किया है। ऐसे स्थानो पर मायामूलक रहस्य भावना मधुर हो उठी है। माया रूपी डायन का वर्णन देखिए कितना भावात्मक और दार्शनिक है:—

"एक डायन मेरे मन बसै। नित उठ मेरे जिय को डसै॥
ता डायन के लरिका पाँच रे। नित उठ मोहि नचावहि नाच रे॥"

यही डायन माया ही तो रहस्यानुभूति में बाधक रूप है—

"मुख कड़ियाली कुमति की कहन न देइ राम।"

मिलन की अवस्था:—सच्चा साधक माया के इन तमाम विकारो पर शीघ्र विजय प्राप्त कर लेता है। इसीके पश्चात् उसका प्रियतम से साक्षात्कार होता है। इसी साक्षात्कार की स्थिति को 'अण्डरहिल' ने तादात्म्य की स्थिति (Unitive life) नामक रहस्यवाद की पाँचवी अवस्था कहा है। सूफियों की हाल की दशा भावात्मक मिलन की ही दशा है। इसके सूफियो ने दो पक्ष माने है—त्याग पक्ष और प्राप्ति पक्ष। त्याग पक्ष की भी दो स्थितियाँ होती हैं:—(१) फना अर्थात् अपनी जगह की प्रतीति से परे हो जाना (२) फकद अर्थात अहं भाव का नाश होना। इसी प्रकार प्राप्ति पक्ष की भी तीन अवस्थाएँ मानी गई हैं। वे क्रमशः बका (परमात्मा में स्थिति), वज्द (परमात्मा की प्राप्ति), और शह्व (पूर्ण शांति की स्थिति) है। कहना न होगा कि 'हाल' की

पाँचों अवस्थाएँ मिलन की ही विविध स्थितियाँ और अनुभूतियाँ हैं। कबीर और जायसी और दोनो मे मिलन पक्ष के सुन्दर रहस्यात्मक चित्रण मिलते है। कही-कही दोनो के भाव-चित्रण मे बडा साम्य दिखलाई पडता है। मिलन के पूर्व मधुमयी अनुभूतियो का वर्णन दोनों ही समान भावना से प्रारम्भ करते है। किन्तु कबीर की भावना आगे चल कर अधिक आध्यात्मिक हो जाती है—

"थरहर कम्पै बाला जीव।
न जानै क्या करसी पीव॥
रैनि गई मत दिन भा जाय।
भवर गए वग बैठे आय॥"

इसके विपरीत जायसी इस भावना को इतना सरस बना देते है कि उसमे लौकिकता का आभास होने लगता है। उनकी उक्ति देखिए—

"अन चिन पिउ कापै मन माँहा का मैं करब गहब जो बाहा
बारि वैस गई प्रीति न जानी, जुवा भई मैमंत भुलानी
जोवन गरब न मै किछु चेता, नह कि जानों साम मी सेता'

इसके पश्चात् प्रत्यक्ष साक्षात्कार की स्थिति आती है। दोनो कवियो ने इस स्थिति के रमणीय चित्र प्रस्तुत किये है। किन्तु दोनों के चित्रो में अन्तर है एक के चित्र सूफी इब्नासिना के सौन्दर्यवाद और सहूदिया वर्ग के सूफियो के प्रतिबिम्बवाद से अनुप्राणित है। दूसरों की भावना पर भारतीय भक्ति मार्ग और उपनिषदो का प्रभाव है। जायसी के साक्षात्कार की स्थिति के चित्रो मे एक विचित्र रमणीयता है एक अनिर्वचनीय आनन्द भरा हुआ है

"देखि मानसर रूप सुहावा, हिय हुलास पुरइन होई छावा।
गा अँधियार रैनि मसि छूटी, भा भिनसार किरन रवि फूटी।
अस्ति अस्ति सब साथी बोले, अन्ध जो अहै नैन विधि खोले।"

साक्षात्कार का दूसरा चित्र इससे भी अधिक मनोरम है—

"कहा मानसर चाह सो पाई, पारस रूप यहां लगि आई ॥
भा निरमल तिन्ह पायन परसे, पावा रूप रूप के दरसे ॥
मलय समीर बास तन पाई, भा सीतल गै तपनि बुझाई ॥
न जनौं कौन पौन लेइ आवा, पुराय दशा भई पाप गवावा ॥
तत खन हार वेगि उतराना, पावा सखिन्ह चन्द बिहसाना ।
विकसा कुमुद देखि ससिरेखा, भई तहँ ओप जहाँ जेहि देखा ।
नयन जो देखा कमल भा निरमल नीर शरीर ।
हँसत जो देखा हस भा दसन जोति नगहीर ॥"

इन पक्तियो मे जायसी एक ओर इब्नसिना और जामी के सौन्दर्य वाद से तथा सूफियो के साहूदिया वर्ग के प्रतिबिम्बवाद से प्रभावित है दूसरी ओर उपनिषदो के—

भिद्यते हृदय ग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्वे सशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् द्रष्टि परावरे ॥'

के आदर्श से महीयान है । यहाँ पर विराट् ब्रह्म की विश्व-व्यापिना भावना के सहारे वडा सुन्दर चित्रण प्रस्तुत किया है । समासोक्ति रूपक, उत्प्रेक्षा, रूपकातिशयोक्ति एव साध्यवसाना गौणी लक्षणा के प्रयोग से स्वर्ण-सुगन्ध-सयोग उपस्थित हो गया है । कबीर ने भी इस स्थिति का वर्णन किया है । किन्तु उनमे न तो जायसी का काव्यत्व ही मिलता है और न सूफी सौन्दर्यवादिता ही । उन पर उपनिषदों की शुष्क छाया है—

"हरि संगत सीतल भया, मिटी मोह की ताप ।
निस बासर सुखनिधि लहा, अन्तर प्रगटा आप ॥"

दोनों की अनुभूतियो मे एक और अन्तर दिखलाई पडता है । एक का साक्षात्कार मानसिक एवं अन्तर्दृष्टिमय है दूसरे का बाह्यात्मक और प्रत्यक्ष । कबीर का प्रियतम उनके अन्तर्जगत् में उदय होता है । जायसी का बहिर्जगत् मे ।

इसी साक्षात्कार के अन्तर्गत संयोगजनित विविध लीलाएँ और क्रीड़ाए आती है। जायसी और कबीर दोनो ने इनके मधुमय चित्र चित्रित किये है। किन्तु जायसी के चित्रों में कबीर की अपेक्षा लौकिकता का स्पर्श अधिक है। पद्मावती का सयोग-वर्णन बहुत अधिक शृंगारिक हो गया है। इस दृष्टि से कबीर अधिक मधुर और रहस्यात्मक है। उदाहरण के लिए उनका प्रसिद्ध पद देखिए—

'घूँघट का पट खोल री तोकों पीव मिलेंगे।'

इस पद मे माधुर्य के साथ-साथ माया के आवरण को विदीर्ण करके प्रियतम से मिलने का आध्यात्मिक संकेत भी है। यही आध्यत्मिकता कबीर के रहस्यवाद की प्रमुख विशेषता है। इस क्षेत्र में वे जायसी से कही अधिक बढे हुए है।

साक्षात्कार के बाद मिलन की वही मधुर स्थिति आती है जब साधक रूपासव का पान करके मूक हो जाता है। इसी स्थिति को दृष्टि मे रखकर 'निकल्सन' सूफी रहस्यवाद के सम्बन्ध मे लिखते है। *"जो ईश्वर को जानता है वह मौन हो जाता है।"* गीता में भी यही कहा है कि सच्चा मुनि वही है जो मौनी है। इस स्थिति को लक्ष्य करके कबीर ने लिखा है—

"देखा है तो कस कहूँ, कहूँ सो को पतयाय।
गूँगे केरी शर्करा बैठे ही मुसकाय।।"

इसी स्थिति का सकेत जायसी ने निम्नलिखित शब्दो में किया है। इसमें जायसी की तीव्र अनुभूति भरी है—

"सुनि धनि प्रेम सुरा के पिए जियव मरन डर रहे न हिए।"

भारतीय रहस्यवाद का प्राण अद्वैतवाद है। जीव माया के आवरण को ज्ञान के सहारे विदीर्ण करके आत्मा से नीर-क्षीर की तरह एक हो जाता है। यही मोक्ष की चरम स्थिति है। उपनिषदों ने *'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'* लिखकर यही बात ध्वनित की है। भारतीय रहस्यवादी

का लक्ष्य भी इसी स्थिति को प्रेरित करना होता है। वह तीव्र भावना के सहारे इस दिशा मे अग्रसर होता है। विश्व के अन्य रहस्यवादियो से यही भरतीय रहस्यवाद की विशेषता है। 'अण्डरहिल' ने भी भारतीय रहस्यवादी की यह विशेषता स्वीकार की है। यहाँ उनके शब्द को उद्धृत कर देना अनुपयुक्त न होगा—

"It is right however to stiate here that Driantal Mystieism insisted upon a further stiage beyond that of union. This is the total annihilation or reabsorption af in dividual seelp in the infinite."

अर्थात् 'भारतीय रहस्यवादी मिलन के आगे की स्थिति को प्राप्त होता है। यह पूर्ण तादात्म्य की अवस्था है।' जहाँ तक सूफियो का सम्बन्ध है यह स्थिति अधिकतर उनमे नही पाई जाती है। प्रो० निकलसन ने 'Idea of personality in Sufism' नामक ग्रथ में इस बात को सिद्ध भी कर दिया है। जायसी सूफी थे। अत उनमे इस स्थिति के चित्र नहीं दिखाई देते। कबीर पर भारतीय अद्वैत वेदात का वहुत अधिक प्रभाव पड़ा था इसीलिए उनमे इस स्थिति के चित्र अधिक पाए जाते है। इसी स्थिति में पहुँचकर वे कह उठते है :—

'हरि मरिहैं तो हमहुँ मरि हैं, हरि न मरै हम काहे को मरै'

अभिव्यक्ति—यह तो हुआ रहस्य-भावना का तुलनात्मक निरूपण। अब थोड़ा-सा दोनों की रहस्याभिव्यक्ति अलौकिक आनन्द की तीव्रतम अनुभूति कही जा सकती है। इस अलौकिक आनन्द को शब्द मे सीमित करना बहुत कठिन हो जाता है। इसीलिए रहस्यवादी को विविध सहायक अभिव्यक्ति-प्रणालियो की शरण लेनी पड़ती है। इन अभिव्यक्ति प्रणालियों में प्रतीक-पद्धिति, रूपक-योजना, समासोक्ति, अन्योक्तियाँ और उलटवासी आदि प्रमुख रूप से आती है। जायसी और

कबीर की रहस्याभिव्यक्ति-प्रणालियो मे भी अन्तर है.। जायसी ने असफल अन्योक्ति तथा सफल समासोक्ति के सहारे अपने रहस्यवाद की अभिव्यक्ति की। इसके अतिरिक्त प्रतीकात्मकता का भी सुन्दर प्रयोग उनमे मिलता है। उनकी पद्मावत की कहानी एक प्रकार से प्रतीकात्मक रूपक कही जा सकती है। प्रतीक पद्धति का कबीर ने भी अनुकरण किया है। इसके प्रमाण स्वरूप उनकी *'हरि मेरा पीव मै राम को बहुरिया'* *'हरि जननी मै बालक तोरा'* उक्तियाँ ली जा सकती हैं। किन्तु इसमे कबीर की वृत्ति रमती हुई नही दिखाई देती। इसीलिए उन्होने अधिकतर रूपको और उलटवासियो का आश्रय लिया है। उन्होने अन्योक्तियो का भी प्रयोग किया है किन्तु जायसी के ढंग पर नही। उनकी उक्तियाँ पद्मावत के समान विशाल रूप मे नही व्यक्त हुई है। वे अत्यन्त सरल सक्षिप्त और सकेतात्मक हैं। एक उदाहरण देखिए—

"माली आवत देखकर कलियाँ करें पुकार।
फूले फूले चुन लिए काल्हि हमारी बार॥"

कबीर के रूपक बहुत प्रसिद्ध है किन्तु आध्यात्मिकता के कारण जटिल अधिक हो गए है। 'संत कबीर' में दिये हुए इनके रूपक विशेप दृष्टव्य है। रूपको के अतिरिक्त उलटवासियाँ भी अध्ययन करने योग्य है। उलटवासियो की परम्परा वैदिक काल से चली आ रही है। वेद मे दिया हुआ अदिति का वर्णन उलटवासी के रूप में ही है। सिद्धो और नाथो मे तो यह पद्धति विशेष रूप से प्रचलित थी। सूफियो मे भी ऐसी अभिव्यक्तियों की कमी नही है। इस प्रकार कबीर को इस क्षेत्र मे एक लम्बी-चौड़ी परम्परा प्राप्त हुई थी। उसका उन्होने अपनी रहस्याभिव्यक्ति मे उपयोग किया है। कबीर में उलटवासियों के अधिक प्रयोग का कारण उनकी गूढ आध्यात्मिकता भी है अध्यात्म-क्षेत्र मे शिष्य का पात्रत्व और ब्रह्म-जिज्ञासा अत्यन्त आवश्यक होती है। इसलिए 'ब्रह्मसूत्र' का प्रारम्भ *'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा'*

से हुआ है। कबीर ने अपने आध्यात्मिक सिद्धान्तों को उलट-वासियों के रूप मे इसीलिए व्यक्त किया है कि केवल जिज्ञासु पात्र ही उन्हें समझ सकें। उलटवासियो के अतिरिक्त कबीर मे कुछ ऐसी रहस्यात्मक उक्तियाँ भी पाई जाती है जिनमे परिभाषिक शब्दो के सहारे जटिलता और अस्पष्टतामूलक रहस्य व्यक्त करने की चेष्टा की गई हैं। उनकी इस प्रकार की उक्तियाँ भी तीन प्रकार की है। एक तो वह है जिनमें सिद्धो और नाथ पथियों मे प्रचलित पारिभाषिक शब्दों को लेकर यौगिक रहस्य निर्देशित किये गए है जैसे यह उक्ति देखिए—

"सुरित समानी निरति में निरति रही निरधार।
सुरत निरत परचा भया तब खूले स्यम्भ दुआर॥"

दूसरे प्रकार की वे उक्तिया है जिनमे सख्यावाचक साकेतिक शब्दों का प्रयोग करके रहस्यात्मकता लाने की चेष्टा की गई है। जैसे—

"चौंसठ दीवा जोइकर चौदह चन्दा माहि।
तेहि घर किसको चानिणो जेहि घर गोविन्द नाहि॥"

तीसरे प्रकार की उक्तियो में उन्होने आश्चर्यजनक बातो का वर्णन कर रहस्यपूर्ण तथ्यो की ओर संकेत किया है—

'ज्ञान अचेत फिरै नर लोइ ताथे जनम जनम उहकाये।
धोल मद लिया बैला पावी कउवा ताल बजावै।
पहरि चोलना गदहा नाचै भैसा नरति करावै॥'

यह तीनों प्रकार की उक्तियाँ अभिव्यक्तिमूलक रहस्यवाद के अन्तर्गत आयगी। इसे मै शैलीगत नकली रहस्यवाद मानता हूँ। जायसी ने इस प्रकार की उक्तिया बहुत कम दी है। हाँ इतना अवश्य है कि उन्होने कही योग के पारिभाषिक शब्दो की अच्छी योजना की है। कहीं-कहीं झूठे श्लेष का भी प्रयोग किया है। ऐसे स्थलो से जायसी का

मूल्य घट गया है। किन्तु उनमें ऐसे स्थल कबीर की अपेक्षा बहुत कम है।

लोक संग्रह :—मध्यकालीन सतो की रहस्य-भावना का विश्वलेषण करते हुए आचार्य क्षितिमोहन सेन ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'मेडिवल मिस्टि-सिज्म' मे लिखा है। 'They have ascetie aversion to life' अर्थात् उन्हें जीवन के प्रति विरागमयी उदासीनता का अनुभव नही होता है। कबीर जायसी दोनो मे इस विशेषता के दर्शन होते है। जायसी ने रत्नसेन के जीवन के सहारे यह बात ध्वनित की है। रत्नसेन जीवन से उदासीन होता है सही, किन्तु पद्मावती को प्राप्त करके वह पुन. मधुमय जीवन का अनुभव करता है। कबीर को लोग पूरा वैरागी समझते है, किन्तु वैराग उनके लिए कभी साध्य न था। वे उसे साधन-मात्र समझते थे। उनका उपदेशक रूप निर्विवाद है। लोक-सग्रह करना वे ईश्वर प्रेरित अपना कर्तव्य समझते थे—

"साईं यहै विचारिया साखी कहै कबीर।
भवसागर के बीच में कोई पकड़े तीर॥"

अत: स्पष्ट है कि कबीर भी कोरे वैरागी नही थे। उनमे भी लोक-सग्रह की भावना थी। उनका रहस्यवाद उससे अछूता नही बचा है।

निष्कर्ष :—इस प्रकार हम कह सकते है कि जायसी और कबीर हिन्दी-साहित्य के श्रेष्ठ रहस्यवादी कवि है। एक का रहस्यवाद भारतीय भक्ति-मार्ग, श्रुति-ग्रन्थ, सिद्धमत और नाथ-सम्प्रदाय से प्रभावित होने के कारण आध्यात्मिकता, एकान्तिक, व्यष्टिमूलक सजीव और वर्णनात्मक है दूसरे का सूफी साधना और भावना से अनुप्राणित होने के कारण अत्यन्त सरस, संकेतात्मक और समष्टिमूलक है। वह प्रेमाख्यान के सहारे अभिव्यक्त होने के कारण मधुर और नाटकीय भी है।